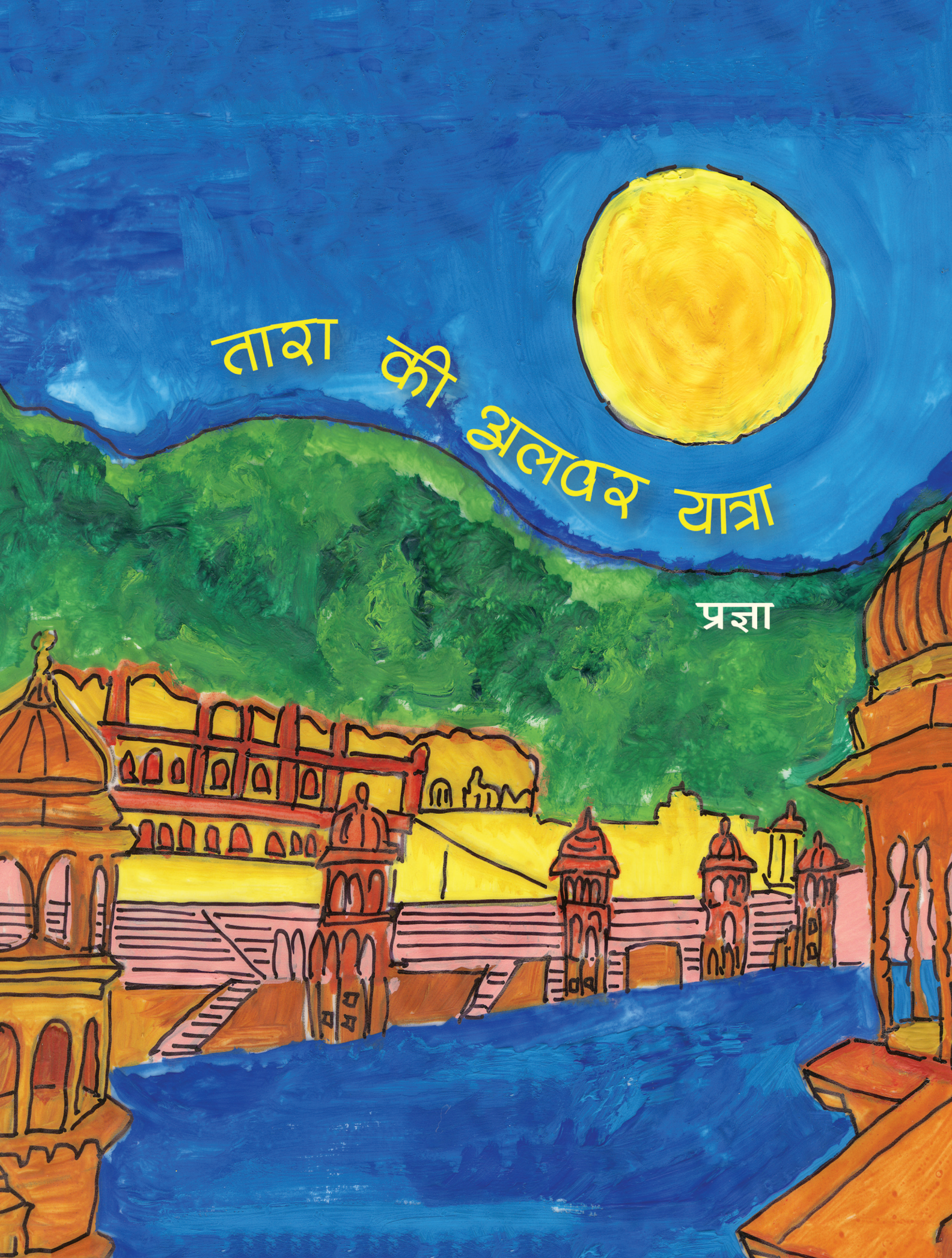
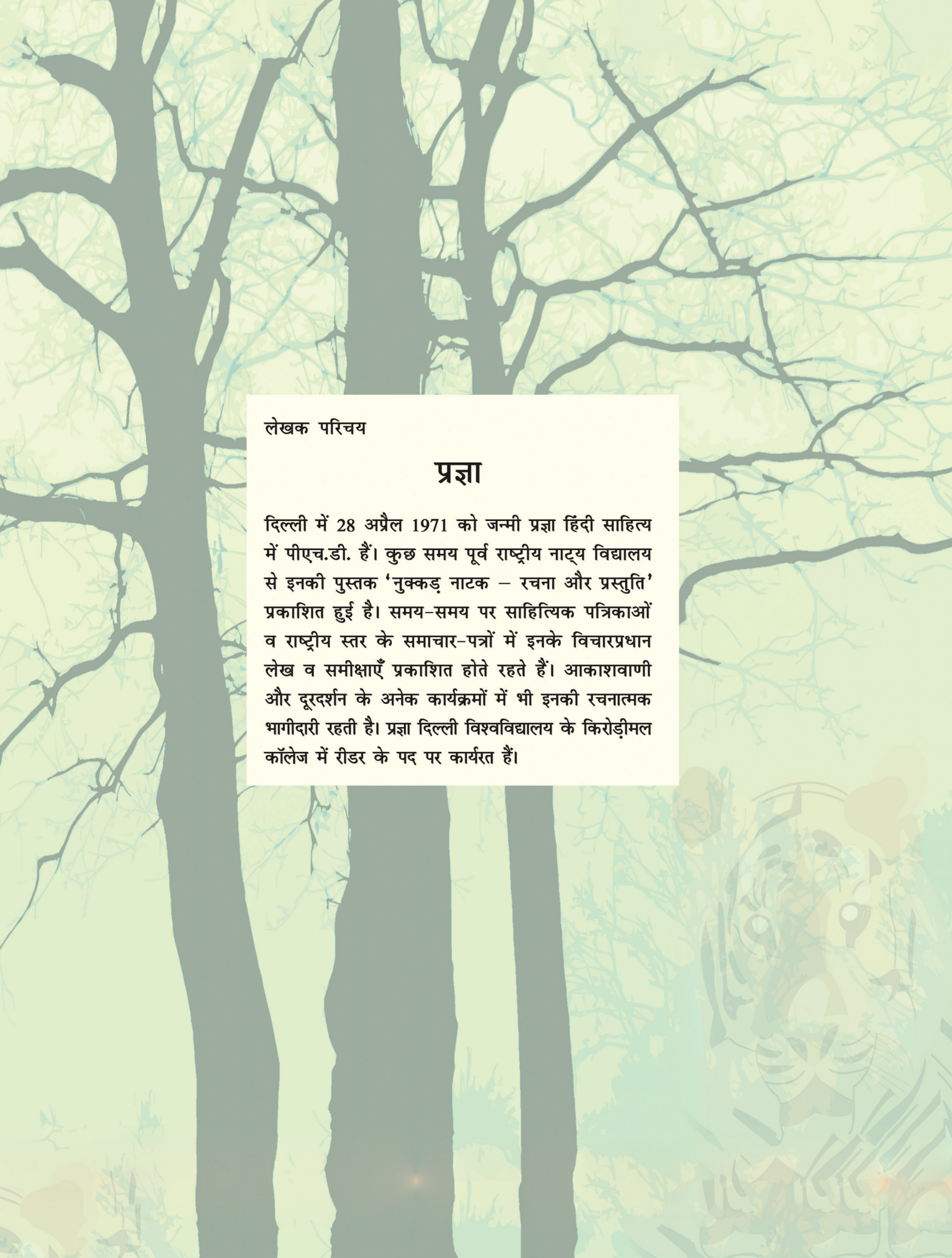


तारा की अलवर यात्रा

प्रज्ञा





लेखक परिचय

प्रज्ञा

दिल्ली में 28 अप्रैल 1971 को जन्मी प्रज्ञा हिंदी साहित्य में पीएच.डी. हैं। कुछ समय पूर्व राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से इनकी पुस्तक 'नुक्कड़ नाटक – रचना और प्रस्तुति' प्रकाशित हुई है। समय-समय पर साहित्यिक पत्रिकाओं व राष्ट्रीय स्तर के समाचार-पत्रों में इनके विचारप्रधान लेख व समीक्षाएँ प्रकाशित होते रहते हैं। आकाशवाणी और दूरदर्शन के अनेक कार्यक्रमों में भी इनकी रचनात्मक भागीदारी रहती है। प्रज्ञा दिल्ली विश्वविद्यालय के किरोड़ीमल कॉलेज में रीडर के पद पर कार्यरत हैं।

ताश की ऀलवर यात्रा

प्रज्ञा

विद्यया ऽ मृतमश्नुते



एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

जनवरी 2008 पौष 1929

पुनर्मुद्रण

फरवरी 2012 फाल्गुन 1933

अक्तूबर 2019 कार्तिक 1941

जून 2020 ज्येष्ठ 1942

अगस्त 2022 भाद्रपद 1944

PD 7T RSP© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण
परिषद्, 2008

₹ 75.00

80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्,
श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशन
प्रभाग में प्रकाशित तथा लक्ष्मी ऑफ़सेट प्रिंटर्स, प्लाट
नं. 1, सैयद नगर, चावड का मढ, नाई की थड़ी, जयपुर
302 027 द्वारा मुद्रित।

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुनः प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रचारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशन की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। खंड की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन. सी. ई. आर. टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस

श्री अरविंद मार्ग

नयी दिल्ली 110 016

फ़ोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड

हेली एक्सटेंशन, होस्टेकेरे

बनाशंकरा III इस्टेज

बेंगलुरु 560 085

फ़ोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन

डाकघर नवजीवन

अहमदाबाद 380 014

फ़ोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस

निकट – धनकल बस स्टॉप पानिहटी

कोलकाता 700 114

फ़ोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लेक्स

मालीगाँव

गुवाहाटी 781021

फ़ोन : 0361-2676869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग	: अनूप कुमार राजपूत
मुख्य उत्पादन अधिकारी	: अरुण चितकारा
मुख्य व्यापार प्रबंधक	: विपिन दिवान
मुख्य संपादक (प्रभारी)	: बिज्ञान सुतार
उत्पादन सहायक	: सुनील कुमार
संपादक	: रेखा अग्रवाल
सज्जा	: जोएल गिल

आवरण

प्रज्ञा और श्वेता उप्पल



ताश की ऋलवऱ यात्रा

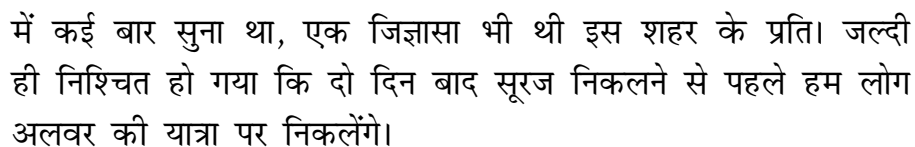
राजस्थान का 'टाइगर गेट'

बारहवीं की परीक्षाएँ खत्म हुए अभी कुछ ही दिन बीते थे। मैंने सोचा था कि परीक्षा से मुक्त होते ही सारा दिन मीठी नींद सोया करूँगी। खूब खाऊँगी, सहेलियों से गप्पे मारूँगी और मजे ही मजे करूँगी। यह दिनचर्या दो दिन आराम से चली लेकिन ठीक तीसरे दिन मुझे सोने, खाने-पीने, गप्प और आराम से ऊब होने लगी। ऐसा लगने लगा कि इससे अच्छी तो परीक्षाएँ थीं। एक निश्चित लक्ष्य पाने के लिए बहुत सारा काम तो था मेरे पास तब। अब इस ऊब में मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। सुबह-शाम एक ही सवाल मेरे सामने था—क्या करूँ? कुछ न कर पाने के चक्कर में कभी छोटी बहन से झगड़ पड़ती तो कभी भाई से बेबात उलझ जाती। माँ-पिता जी ने बोरियत दूर करने के कई उपाय बताए, पर मेरा मन किसी में न रमा। आखिरकार एक रास्ता सभी को सूझा कि कुछ दिनों के लिए कहीं घूम आया जाए।

घूमने-फिरने की बात ने घर का सारा माहौल बदल डाला। सभी के चेहरे खुशी से चमक उठे। पूरे घर में उत्साह भर गया। अब बस यह निश्चित करना था कि घूमने जाएँ तो कहाँ! समस्या यह भी कुछ कम कठिन नहीं थी। घर के पाँच सदस्य तो सबकी सोच भी अलग-अलग। कोई उत्तर जाने को तैयार था, कोई दक्षिण। एक पूर्व का मन बनाए बैठा था तो दूसरा पश्चिम का और एक इन सबसे परे मध्य भारत की यात्रा के सपने बुन रहा था। पर इस बार यात्रा का कार्यक्रम मुझे ध्यान में रखकर बनाया गया था। इसलिए पिता जी ने मेरी राय को सबसे ऊपर रखा। मैं एक ऐसी जगह की यात्रा करना चाहती थी, जिसके बारे में मुझे बहुत अधिक जानकारी न हो, क्योंकि मैं उस जगह को अपनी तरह से देखना-जानना चाहती थी।

राजस्थान के अनेक शहरों में पिता जी हमें घुमा चुके थे फिर भी हमारा मन नहीं भरा था। इसलिए अंततः तय हुआ कि हम राजस्थान में ही कहीं जाएँगे। पर कहाँ? हम सब लोग बीकानेर, जयपुर, उदयपुर, अजमेर, माउंटआबू, चित्तौड़गढ़ तो घूम आए थे, अब कहाँ जाएँ? पिता जी ने इस समस्या का हल चुटकियों में कर डाला। उन्होंने कहा, “देखो भई, राजस्थान तो बहुत घूमा है और अब भी वहीं जाना है, तो क्यों न अलवर चलें? राजस्थान का 'टाइगर गेट' अलवर देखे बिना राजस्थान की यात्रा अधूरी रहेगी।” यँ तो अलवर का नाम पिता जी के मित्रों के संदर्भ





माँ-पिता जी ने हम लोगों को अपनी-अपनी तैयारी कर लेने के लिए कहा। हर यात्रा से पहले हमारे घर में ऐसा ही होता है। घर का प्रत्येक सदस्य अपने कपड़े और ज़रूरी सामान अपने बैग में तह लगाकर रख लेता है। इस तरह काम बँटने पर किसी एक व्यक्ति पर अधिक बोझ भी नहीं पड़ता। अलवर जाने से एक दिन पहले पिता जी ने मुझे बुलाया। हमारी बातचीत लंबी चली। उनके अनुसार मुझे इस यात्रा में घूमने के अतिरिक्त एक ज़रूरी काम यह करना था कि घूमने के दौरान कई जानकारियाँ इकट्ठी करनी थीं। फिर उन्हें लिखना था। यात्रा का पूरा ब्यौरा मुझे कागज़ पर उतारना था, मुख्य स्थलों की फोटो लेनी थी। इतना ही नहीं अलवर को जानने के लिए ज़रूरत पड़ने पर वहाँ के निवासियों से निःसंकोच बात भी करनी थी। अपनी हलकी-सी झिझक को दूर करते हुए मैं उनकी बात मान गई।

आखिरकार वह दिन आ ही गया, जिसका हमें बेसब्री से इंतज़ार था। रात भी हमने करवटें बदलते हुए काटी थी। डर था कि हम कहीं गहरी नींद न सो जाएँ क्योंकि हमें सुबह बहुत जल्दी निकलना था। ठीक चार बजे हम लोग अपने-अपने सामान सहित घर से चल पड़े। मैंने हमेशा की तरह अपने साथ एक कॉपी और कुछ पेन-पेंसिल भी रखे। घर से दूर जाते हुए मैं प्रायः कागज़-पेंसिल आदि साथ रखती हूँ। वहाँ की कोई बात नोट करनी हो या कोई विशेष चित्र बनाने का मन हो तो आसानी रहती है। उदयपुर में मैंने सहेलियों की बाड़ी के फव्वारे का जो चित्र बनाया था, उसे माँ ने फिर फ्रेम करवाकर अपने कमरे में टाँगा था। मैं जब-जब उसे देखती हूँ सहेलियों की बाड़ी आँखों में तैरने लगती है। पिता जी ने गाड़ी में सारे सामान के साथ खाने-पीने की कई चीज़ें भी रख लीं। जैसे ही गाड़ी ने गति पकड़ी, हम सब उल्लास से चीखे, “अब चली गाड़ी दिल्ली से अलवर।” रास्ता एकदम खाली था, आसमान में अंधेरा छाया हुआ था, ठंडी हवा थी और हम लोग प्रसन्न मन से मंजिल की ओर बढ़ रहे थे।

अलवर, दिल्ली से एक सौ सत्तर किलोमीटर की दूरी पर था। हम लोग गुड़गाँव की ओर बढ़ रहे थे। सड़क के आसपास का रास्ता तरह-तरह के उद्योगों से भरा था। लगभग घंटे भर बाद हम गुड़गाँव से आगे थे। राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या 8 पर बढ़ते हुए अब हमने धारुहेड़ा से आगे भिवाड़ी की ओर रुख किया। माँ ने बताया कि भिवाड़ी राजस्थान का औद्योगिक क्षेत्र

है। दिल्ली और यहाँ के रास्ते में एक मुख्य अंतर भी हमें साफ़ दिखाई दे रहा था। उद्योगों की भरमार के बावजूद विश्व की प्राचीनतम पर्वत शृंखलाओं में से एक अरावली पर्वत शृंखला अब हमें दिखाई देनी शुरू हो गई थी। दिल्ली के कुछ हिस्सों में भी यह दिखाई देती है, लेकिन यहाँ तो दूर-दूर तक इस शृंखला का साम्राज्य फैला हुआ था। उद्योगों के अलावा रास्ते में कई गाँव पड़े। सड़क के किनारे लगे बोर्ड इन गाँवों के नाम बता रहे थे। हिचकोले खाते हुए भी मैं अपनी कॉपी खोले और कलम सँभाले बैठी थी। मगर इनसे कहीं ज्यादा तैयार मेरा मन था। कोई भी जानकारी मुझसे छूटे नहीं, मेरी यही कोशिश थी। अब रास्ते में लंबे-चौड़े खेत भी दिख रहे थे। ततारपुर, करमपुर, करोली गाँव भी रास्ते में पड़े। यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। खेतों में फसलें खड़ी थीं और थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कहीं भूसे की झोंपड़ी थी तो कहीं उपलों की झोंपड़ी। पशुओं के चारे का संग्रह भूसा-झोंपड़ी में था, तो खाना पकाने के लिए ईंधन उपला-झोंपड़ी में। ये उपला-झोंपड़ियाँ कलाकारी से भरपूर थीं। हर झोंपड़ी अलग आकार की और डिज़ाइनदार थी। किसी पर पेड़, चक्र बने थे तो कहीं फूल खिल रहे थे। उँगलियों के पोरों से की गई यह सौंदर्य-सृष्टि बेमिसाल थी। मैंने मन बना लिया था कि गाड़ी के रुकते ही उपला-झोंपड़ी का एक चित्र बनाऊँगी।

खेतों के पार पहाड़ियाँ इठला रही थीं। ऊँचे, नीचे, गहरे, फैले पहाड़ कभी अनजान बनकर हमसे दूर चले जाते तो कभी हमारे गहरे दोस्त की तरह एकदम पास आ जाते। इसी रास्ते पर आगे तिजारा पड़ा। तिजारा के प्रसिद्ध जैन मंदिर की ओर जाने के दिशा-निर्देश रास्ते में बने थे, पर हमें तो आगे जाना था। इस रास्ते में हमने देखा कि ईंधन से चलने वाले वाहनों



लोक कला का नमूना : उपलों की झोंपड़ी





के अतिरिक्त ऊँटगाड़ी और भैंसागाड़ी का बहुत अधिक प्रयोग यहाँ किया जाता है। ऊँट को देखते ही छोटे भाई प्रतीक के मुँह से निकला, “देखो रेगिस्तान का जहाज़!” हमने उसके ज्ञान की प्रशंसा की। पूरी-आलू की सब्जी का आनंद उठाते हुए हम सब शाहबाद,



रेगिस्तान का जहाज़

किशनगढ़, मेवात, धांसोली, मुड़िया खेड़ा से आगे बढ़ गए। किशनगढ़ के बाद तो रास्ता बेहद अच्छा लगने लगा क्योंकि पहाड़ अब हमारे एकदम नज़दीक थे। इन पहाड़ों के बीच से ही हम अपनी राह पर बढ़े जा रहे थे।

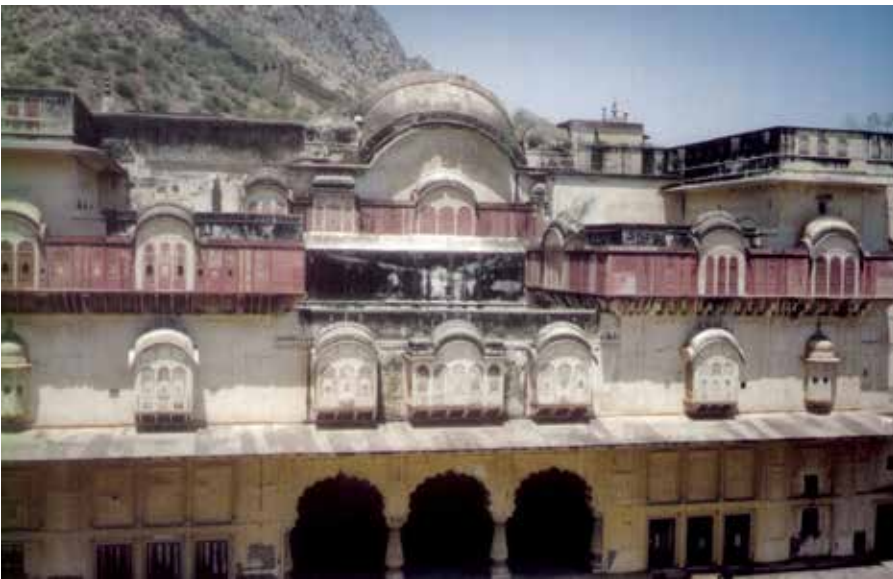
लगभग चार घंटे की यात्रा तय करके गाजूका, राजगढ़, महावीर जी के बोर्ड, रास्ते में दूर-दूर बने घरों, स्कूलों, मदरसों से होते हुए अब हमने अलवर शहर में प्रवेश किया। सभी का मन बल्लियों उछल रहा था। माँ ने मुसकराते हुए कहा, “लो तारा, आ गया तुम्हारा अलवर!” मैं रोमांच से भर गई। छोटी बहन छाया झूठे गुस्से में बोली, “इनका अलवर नहीं हमारा अलवर!” गाड़ी अब अलवर की सीमा के भीतर थी। एक नया शहर हमारे सामने था। कई विद्यालयों से गुज़रकर हम आगे चले जा रहे थे। मैंने पाया कि यहाँ थोड़ी-थोड़ी दूरी पर चौक आता है। इस चौक की निशानी गोल चक्कर है जिसमें विशिष्ट लोगों की मूर्तियाँ स्थापित हैं, जैसे- बाबा साहब अम्बेडकर, भगत सिंह, राजीव गाँधी आदि। स्कूलों के अतिरिक्त यहाँ रास्ते में इंदिरा गाँधी स्टेडियम भी पड़ा। इसी सड़क पर आगे मोतीडूंगरी था और पिता जी ने तय किया कि यहीं किसी होटल में डेरा जमाया जाए।

जल्दी ही डेरा जमाने की जगह का प्रबंध हो गया। तय हुआ कि कुछ देर के विश्राम के बाद तरोताज़ा होकर घूमने निकलेंगे। लगभग डेढ़ घंटे बाद जब सबने खा-पी लिया और पैर फैलाकर कुछ देर आराम कर लिया तो अब चलने की बारी आई। इसी बीच माँ ने होटल के कर्मचारियों से अलवर के मुख्य स्थलों की जानकारी भी ले ली थी। सफ़र आगे बढ़ा और हम लोग बढ़े शहर महल की ओर।

श्रुतीत के झरोखे

होटल से लगभग पाँच किलोमीटर की दूरी पार करके हम शहर के आधुनिक माहौल से एकदम भिन्न माहौल में आ गए। यहाँ बड़ी-बड़ी सड़कों की अपेक्षा तंग गलियाँ थीं। गलियों में दुकानें। चढ़ाई का रास्ता था। हम सिटी पैलेस का रास्ता पूछते हुए आगे चले जा रहे थे। जगन्नाथ जी के मंदिर के पास ही पुराने उजड़े-बसे हवेलीनुमा घरों के नज़दीक से गुज़रकर हम एक बड़े से अहाते में पहुँचे। इस अहाते में चार मंदिर बने थे। यहीं गाड़ी रोककर हमने सामने से साइकिल पर आते दो लोगों से सिटी पैलेस का रास्ता पूछा। इन व्यक्तियों ने हमारी मुश्किलों का हल कर दिया। उनके अनुसार आगे हमें पैदल जाना था और एक सुरंगनुमा रास्ते से गुज़रकर महल में प्रवेश करना था। मैंने अनुभव किया कि ये दोनों व्यक्ति बड़े ही सहयोगी स्वभाव के थे। एक ओर इन्होंने हमें सिटी पैलेस का रास्ता बतलाया, वहीं दूसरी ओर संग्रहालय और उसके पीछे बनी छतरियाँ देखने की सलाह भी दी। इन अलवरवासियों के अपनत्व ने अलवर देखने के उत्साह को और बढ़ा दिया था।

रास्ता बेहद अव्यवस्थित था, कच्चा था। सिटी पैलेस के प्रांगण में पहुँचकर भी ऐसा महसूस नहीं हो रहा था कि हम किसी ऐतिहासिक इमारत में हों। पीले रंग के महल की कई इमारतें शानदार थीं। सीढ़ियाँ,



ऐतिहासिक सिटी पैलेस





छत्र, द्वार, अहाते सब थे, लेकिन महल के अधिकांश हिस्से में कई सरकारी कार्यालय खुले हुए थे जो उसकी ऐतिहासिकता को, उसकी पहचान को खतरा पहुँचाते हुए-से लग रहे थे।

हर निराशा में आशा छिपी रहती है। सो यहाँ भी कुछ ऐसा ही हुआ। महल को देखकर जरूर मायूसी हुई थी लेकिन अलवर का राजकीय संग्रहालय महल के ऊपरी हिस्से में स्थित था। संग्रहालय की जानकारी मिलते ही मेरी निराशा फुर्र हुई और कहीं खो गई। संग्रहालय देखना मुझे बहुत प्रिय है। मैंने दिल्ली का राष्ट्रीय संग्रहालय देखा था और लालकिले के भीतर के तीन संग्रहालय भी। वहाँ जाकर ऐसा लगता था कि समय का चक्र कहीं बहुत पीछे घूम गया है और मैं स्वयं को कई वर्षों पहले के किसी स्थान पर खड़ा पाती थी। ऐसा ही अनुभव मुझे अलवर के संग्रहालय में हुआ।

अठारहवीं शताब्दी में मुगल और राजपूत शैली के संयोग से बने इस महल में एक गलियारा ऊपर की ओर खुलता है। टिकट खिड़की से संग्रहालय की टिकट लेकर जब मैं एक संकरे रास्ते से गुज़र रही थी तो मैंने नहीं सोचा था कि जल्दी ही इतिहास की दुर्लभ धरोहर से मेरा परिचय होगा। यह धरोहर महल के तीन विशालकाय कक्षों में फैली हुई थी।

पहला झरोखा

पहले कक्ष में प्रवेश करते ही मेरी दृष्टि वहाँ फैली तमाम चीज़ों पर पड़ी और स्थिर न रह सकी। कुछ क्षण बीते और फिर मैं व्यवस्थित तरीके से एक-एक चीज़ की ओर बढ़ने लगी। इस बड़े से कक्ष में प्रवेश करते ही सबसे पहले रखा दिखा— राजा जयसिंह का शिकार किया हुआ बाघ। नौ फुट छह इंच का यह बाघ राजा ने मध्य प्रदेश के ज़िला पन्ना में मार गिराया था। इतना बड़ा बाघ मैंने जीवन में पहली बार देखा था। उसके बगल में एक शिकार किया हुआ तेंदुआ भी मौजूद था। आयताकार कमरे में चक्कर लगाते हुए बाएँ और दाएँ असंख्य ऐसी चीज़ें थीं, जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट और ऐतिहासिक दृष्टि से भी अमूल्य थीं। लकड़ी की चौखट में शीशों के पीछे राजा-महाराजाओं की पोशाकें दीख रही थीं। इनमें शादी के अवसर पर पहननेवाली महाराज जयसिंह की गहरे गुलाबी रंग की पगड़ी थी, जिसे मंदिल कहा जाता है। यहीं कई प्रकार की टोपियाँ भी थीं। अंग्रेज़ी फैशन की टोपी, मखमली टोपी, महाराज शिवदान सिंह

की प्रिय फ़ारसी शैली की टोपी, षट्कोण आकार की टोपी तथा सोने और चाँदी के तारों की कढ़ाईदार विभिन्न टोपियाँ।

इन राजसी पोशाकों में बेहद कीमती अंगरखे, सदरी, कोट, चोगे, पायजामे और अचकन भी शामिल थे। यहीं राजा शिवदान सिंह के बचपन की पोशाक (जिसे 'फरगल' कहा जाता है) थी, जिस पर चाँदी की कशीदाकारी थी। माँ बताती चल रही थीं कि पोशाकें रेशम और मखमल के कपड़ों से तैयार की गई हैं। इन पर ज़रदौज़ी, गंगा-जमुना और सलमे-सितारे का बारीक काम है। ये सभी हमारा मन मोह रही थीं।

पोशाकों के अतिरिक्त राजा-रानियों के दैनिक प्रयोग में आनेवाली कई कलात्मक चीज़ें भी यहाँ थीं। इनमें छड़ी, चाबुक, बेल्ट, बटुए थे। लकड़ी की वस्तुओं में चंदन की लकड़ी के शृंगारदान, पुस्तक-जिल्दें और कई छोटी-बड़ी ट्रे भी थीं। आबनूस की लकड़ी के संदूकचों के साथ ही सुराही, राखदान, पलंग के पाए, हुक्का, कागज़ काटने की छुरी, अलमारी, प्लेट, स्टूल, लैटर बॉक्स, कलमदान, स्याहीदान, तंबाकूदान जैसी शानदार चीज़ें वहाँ सुसज्जित थीं। मुझे तो कलमदान सबसे अधिक आकर्षित कर रहे थे। इन्हें देखने के साथ-साथ मेरे शब्द-भंडार में कुछ नए शब्द भी जुड़ते जा रहे थे। 'किस्ती' एक ऐसा ही शब्द था जिसका अर्थ 'ट्रे' है, शायद किस्तीनुमा होने के कारण। मुझे याद आया पिता जी का एक वाक्य कि विभिन्न संग्रहालयों में जाना प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक-सामाजिक विकास के लिए बेहद ज़रूरी है। कितनी वस्तुएँ कितने भिन्न आकारों में मेरे सामने थीं। गोल, चौकोर, आयताकार, षट्कोणाकार, अण्डाकार और इन भिन्न आकारों की वस्तुओं में कलाकारों का हुनर, उनके द्वारा उभारे गए बेल-बूटे, मानव और पशु-पक्षियों की आकृतियाँ— सभी मन मोह रहे थे। पिता जी ने बताया कि वस्तुओं पर धातु, पत्थर आदि की जड़ाई और कामदार काम को पच्चीकारी कहते हैं। हाथीदाँत की पच्चीकारी तो वहाँ दर्शनीय थी। इन सभी वस्तुओं को आकर्षक बनाने के लिए कारीगरों ने सुनहरी रंग का सर्वाधिक प्रयोग किया था लेकिन लाल, हरा, नीला और पीला रंग भी अपनी छटा बिखेर रहा था।

यहाँ कक्ष में लगे हुए निर्देश पढ़कर यूँ तो काफ़ी चीज़ों की जानकारी मिल रही थी लेकिन मन में लगातार अनेक प्रश्न उठ रहे थे। इनका उत्तर कहाँ से मिले? थोड़ी देर सोचने पर मुझे पिता जी की सीख याद आई। मैंने नज़रें घुमाई तो कुछ दूरी पर संग्रहालय के एक कर्मचारी को खड़ा पाया। मैं विश्वास से भरे कदम लेकर उनके पास मदद माँगने गई। उनका नाम श्री वर्मा था और उन्होंने मेरी मदद के लिए सहर्ष हामी भर



उन्होंने बताया, “ये सभी मूर्तियाँ आठवीं से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के समय की हैं। इनमें से अनेक कहाँ से मिलीं, यह कोई नहीं जान पाया लेकिन कुछ स्थान अवश्य पता चले हैं। राजोरगढ़, सैंथाली, नीलकंठ और बहादुरपुर ऐसी ही जगहें हैं जहाँ से कुछ मूर्तियाँ मिली हैं।” मूर्तियाँ देखते हुए हम आगे बढ़े तो हमारी नज़र शिलालेखों पर पड़ी। संग्रहालय में बहलोल लोदी का सन् 1483 ईस्वी का फ़ारसी लिपि में लिखा गया और बादशाह अकबर का सन् 1581 ईस्वी का शिलालेख वहाँ था।

थोड़ी देर का विश्राम लेकर वर्मा अंकल एक बार फिर हमारे साथ आ खड़े हुए। मेरे यह पूछने पर कि आखिर यह संग्रहालय बना कब? उन्होंने बताया, “राजा बलवंत सिंह की मृत्यु के बाद उनकी ढेर सारी चल सम्पत्ति यहाँ आ गई थी। बाद में राजा विनय सिंह ने कला और शिल्प के इस दुर्लभ संग्रह में रुचि ली। हाँ, महाराज मंगल सिंह ने भी भारतीय कलाओं के उत्कृष्ट नमूनों का संग्रह किया लेकिन तब तक भी संग्रहालय के बारे में नहीं सोचा गया था। बाद में जाकर इन नायाब वस्तुओं को जनता के सामने लाए जाने की बात सोची गई। इसी आधार पर महाराज तेज सिंह के समय मेजर सी.डब्ल्यू.एल. हार्वे और होम मिनिस्टर श्री सुलतान सिंह की देखरेख में 12 जून 1940 में यह संग्रहालय स्थापित हुआ।”

कला के इस अद्भुत संसार में यूँ तो सभी वस्तुएँ आकर्षित कर रही थीं, लेकिन मिट्टी के खेल-खिलौनों ने मुझे और छाया को गहरे तौर पर प्रभावित किया। हमने पिता जी से पूछा कि ये खिलौने किस काम आते होंगे? पिता जी ने एक नज़र उन खिलौनों पर डालकर कहा, “ये खिलौने नहीं हैं, बल्कि प्रजा की ज़िंदगी की जीती-जागती तसवीरें हैं। प्रजा कैसे रहती थी, क्या काम करती थी, क्या खाती-पहनती थी, वह इन खिलौनों से ज़ाहिर हो रहा है।”

हमने अब उन चीज़ों को और ध्यान से देखा। पिता जी की बात को आगे बढ़ाते हुए माँ ने कहा, “उस समय के हाट-बाज़ार कैसे थे- ये खिलौने बतला रहे हैं।” उन्होंने उँगली के संकेत से हमें दिखाया, “देखो, यहाँ ग्राहकों की प्रतीक्षा में फलवाला बैठा है, तो वहाँ कुम्हारिन अपने बर्तनों के बीच बैठी है। थोड़ी दूरी पर कश्मीरी कढ़ाई का काम लेकर मियाँ जी भी बैठे हैं।” प्रतीक ने प्रफुल्लित हो बीच में कहा, “माँ, माँ, मिठाईवाला!” माँ मुसकराई और प्रतीक के बालों को सहलाते हुए बोलीं, “हाँ और मिठाई बेचते हलवाई के साथ खड़े लस्सीवाले का अंदाज़ तो देखो। यहीं कुछ अधेड़ व्यक्ति चौपड़ खेल रहे हैं, तो कुछ





दूरी पर पुजारी पूजा-पाठ में व्यस्त है।” मैंने महसूस किया कि इससे पहले राजा-महाराजाओं की वस्तुएँ देखते समय हाथ से काम किए जाने का कोई भी प्रमाण नहीं था, लेकिन ये खिलौने मेहनती जनता की जीवन शैली को सामने ला रहे थे।

अचानक हमें नगाड़े की ढम्म-सी ध्वनि सुनाई दी। संग्रहालय के कर्मचारी चौकन्ने होकर ध्वनि की दिशा में दौड़े। पता चला कि कॉलेज से आए कुछ लड़कों में से एक ने सख्त निर्देशों के बावजूद वहाँ रखा नगाड़ा बजा दिया था। लोगों ने उसे डाँटा-समझाया। हम लोग भी वहाँ जा पहुँचे। उस शरारती लड़के को अपनी भूल का अहसास हुआ और झेंपते हुए उसने सबसे माफ़ी माँगी। इस घटना को जिज्ञासावश देखने आए हम लोगों को यहाँ कुछ और भी मिल गया। यहाँ तरह-तरह के सितार, वीणा, सारंगी, वायलन भी रखे थे। राजस्थान के अपने खास वाद्ययंत्रों में सितार की ही तरह का दिलरुबा वाद्ययंत्र भी था, जिसके सिर पर हंस के मुख की आकृति उसकी सुंदरता में चार चाँद लगा रही थी। ढप, ढोलक, तानपुरा, पखावज और घुँघरू वहाँ एक मौन संगत देते जान पड़ रहे थे। जलतरंग अपनी खास अदा के साथ उपस्थित था।

यहाँ चाँदी की शतरंजी बिसात बिछी हुई थी, जिस पर हरे, सफ़ेद, लाल रंग के मानव-आकृति वाले मोहरे भी थे। पास ही नादिरशाह, शाहआलम के समय के सिक्कों से लेकर मेरी नानी और दादी के समय के सिक्के भी थे। माँ के पास एक, दो, पाँच और दस पैसे के जो सिक्के स्मृति कोश के तौर पर रखे हैं, वे मैंने यहाँ भी देखे। कभी नया पैसा कहलाने वाले ये सिक्के आज गुज़रे ज़माने की बात हो गए हैं। चुप्पी को चीरती हुई प्रतीक की आश्चर्य मिश्रित आवाज़ एक बार फिर कानों से टकराई, “देखो यह कैसी साइकिल है!” हम जब उसके पास पहुँचे, तो वह जोर-जोर से हँस रहा था। उसने कहा, “साइकिल भी कोई ऐसी होती है क्या? आगे का पहिया इतना बड़ा, इतनी ऊँची सीट और पीछे ज़रा-सा पहिया। पैडल ब्रेक भी नहीं है।” पिता जी ने उसे समझाया कि यह बिल्कुल शुरुआती समय का मॉडल है, जिसे महाराज जय सिंह इंग्लैंड से लाए थे।

विलास की अन्य वस्तुओं में खाने की मेज़, इत्रदान, गलीचा, चिलम, हुक्का, फूलदान आदि थे। भवनों के अनेक सुसज्जित नमूनों के साथ सिटी महल का नमूना भी था। इतना सारा सामान देखकर मैं पहले ही हैरान थी, मेरी यह हैरानी उस समय चौगुनी हो गई, जब वर्मा अंकल ने कहा, “बिटिया इससे दोगुना सामान तो नीचे बंद पड़ा है।”

‘उस संग्रह में न जाने क्या-क्या होगा’, मैं सोचने लगी। काश मैं और मुझ जैसे अनेक लोग उस बंद खज़ाने को देख पाते!

दूशरा झरीखा

पहले कक्ष की स्मृतियों को दिल और दिमाग में बसाकर हम सभी उसी कक्ष के दरवाज़े से एक और बड़े हॉल में दाखिल हुए। अंदर कदम रखते ही लगा, मानो हमने किसी चित्रशाला में प्रवेश किया है। ऊँची छतवाले इस कमरे में राजा-महाराजाओं के चित्र टँगे हुए थे। चित्रों के संग्रह के साथ-साथ यहाँ हस्तलिखित-चित्रित प्रतिलिपियों का संग्रह भी था।

माँ ने एक आदमकद बोर्ड पर लिखी हुई जानकारी संक्षिप्त रूप में देकर हमें समझाया, “अलवर एक स्वायत्त राज्य का दर्जा पाने से पहले जयपुर का हिस्सा था। जब यह नया राज्य जयपुर से अलग हुआ, तब मुगल सल्तनत ढहनी शुरू हो गई थी। दिल्ली दरबार से कला के प्रेमी और पारखी सौदागर कला-सामग्री लेकर निकल रहे थे। अलवर दिल्ली के करीब था। यहाँ के राजाओं ने कई कलाकारों को आश्रय दिया। राजाओं की रुचि और कलाकारों की अनूठी कला ने अलवर को चित्र-कला की दृष्टि से समृद्ध किया।”

छाया और प्रतीक को चित्र देखने में गहरी रुचि थी ही और मुझे चित्र बनाने का शौक। इस तरह हम तीनों की रुचि मिल गई और हम बेहद चाव से चित्रों की ओर बढ़े। हमने पाया कि यहाँ देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों, नरेशों के चित्र थे तो, राग-रागिनियों पर आधारित कई चित्र भी थे। राग-रागिनियों में राग मालकौंस, बसंत, मारू, भैरवी आदि को उनके गायन के निश्चित समय के साथ दर्शाते चित्र एक पंक्ति में लगे हुए थे। लोककथाओं को जीवित करते ढोला-मारू, रूपमती-बाज़बहादुर, शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूँ आदि के चित्र भी यहाँ हैं। इन चित्रों में डेढ़ सौ चित्र तो केवल कृष्णलीला संबंधी ही हैं। इन सभी को देखकर कलाकार के हाथ की सफ़ाई, कौशल और रंग-संयोजन की श्रेष्ठता का अनुमान सहज हो जाता है। आगे बारहमासा से संबंधित कई चित्र थे। हमें तो समझ ही नहीं आया कि यह बारहमासा होता क्या है। माँ ने शब्द को अलग-अलग कर समझाया, “जो बारह महीनों के चित्रण-वर्णन से संबंध रखता हो।” पिता जी ने विस्तारपूर्वक बताया, “बारहमासा वास्तव में लोकगीतों का एक प्रकार है। इसमें अपने प्रिय से बिछड़ गई स्त्री द्वारा वर्ष के प्रत्येक मास में अनुभव किए गए दुःखों, कष्टों आदि का वर्णन होता



है। इसीलिए ये बारहमासा कहलाते हैं।” माँ ने हमें फिर मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचे गए प्रेमाख्यान ‘पद्मावत’ का उदाहरण भी दिया, जिसमें राजा रत्नसेन की पत्नी नागमति के दुखों-कष्टों का वर्णन बारहमासा के आधार पर ही किया गया है। बारहमासा का अर्थ जानकर जब मैंने चित्रों को देखा, तो उनमें गरमी, बरसात, पतझड़, सरदी आदि ऋतुओं में नायिका का दर्द झाँक रहा था।

अलवर, कोटा, जयपुर, कंपनी घराने के चित्रों के साथ यहाँ मुगल घराने के चित्रों की भी कमी नहीं थी। छाया मुझे खींचते हुए वहीं ले गई। इन्हें देखकर ऐसा लग रहा था कि जैसे हम मुगल काल की कोई फ़िल्म देख रहे हों। एक शानदार महल में बाबर अपने बेटे हुमायूँ के संग बैठे हैं, तो इतिहास और समय की सारी हदें तोड़कर वृद्ध अकबर न जाने क्यों चिंतामग्न दिख रहे हैं! छाया बोली, “दीदी वह देखो जहाँगीर भी चले आ रहे हैं।” मैंने देखा कि होली के इंद्रधनुषी रंगों के पीछे त्योहार में मस्त जहाँगीर का चेहरा झाँक रहा था। जहाँगीर होली को पूरी उमंग और उल्लास से मना रहे थे। फ़िल्म का एक सीन खत्म हो चला था। अब चौकन्ने जहाँगीर शिकार खेलने जा रहे थे और महल में औरंगज़ेब अपने मंत्रियों के साथ बैठे हुए थे। दाराशिकोह भी पास ही में थे। इस फ़िल्म में सभी मुगल बादशाहों को एक साथ उपस्थित कर देने वाली कल्पना आनंद प्रदान कर रही थी। फ़िल्म में कुछ महिला किरदार भी थे। सजी-धजी हुमायूँ की पत्नी हमीदाबानो बैठी थीं, तो साथ वाली खिड़की से अकबर की पत्नी जोधाबाई और शाहजहाँ की पत्नी मुमताज़ महल उनसे बातें कर रही थीं। इस संवाद में औरंगज़ेब की बेटी ज़ेबुन्निसा भी शामिल हो गई। अब्दुल रहीम खानखाना, कबीर दास, बीरबल, हज़रत मुईउद्दीन चिश्ती के चित्र बतला रहे थे कि ये हर दौर में जीवित रहने वाले अमर व्यक्तित्व हैं।

इतिहास की जानकार माँ को जब हमने फ़िल्म वाली बात बताई, तो उनकी हँसती हुई आँखों ने हमारी शरारत में छिपी हुई कल्पनाशीलता की प्रशंसा की। उन्होंने बतलाया, “मुगल शासक कला प्रेमी थे। बाबर, हुमायूँ तो स्वयं चित्रकार थे।” मैंने भी तब तक वहाँ से कुछ नवीन जानकारियाँ इकट्ठी कर ली थीं, जिनके आधार पर मैं सबरेजी, दसवंत, हरिवंश, डालचंद, सैयद अली, बलदेव, सालिगराम, बख्तावर सिंह, बलराम, छोटेलाल, बुद्धराम, उदयराम जैसे मुगल और भारतीय चित्रकारों को जान पाई थी। इन लोगों का योगदान देखकर मैंने मन-ही-मन सभी का आभार व्यक्त किया। सभी के प्रति मन कृतज्ञता से भर उठा। इनकी कला ने

हमारे हृदयों को छू लिया था। यह संग्रहालय मेरी नज़र में केवल कला का भंडार नहीं रह गया था, बल्कि उस इंसानियत का जीवंत प्रमाण भी था, जहाँ धर्म और जाति के आधार पर लोग लड़ते-मरते नहीं हैं, बल्कि कला के आश्रय में संस्कृतियाँ फलती-फूलती और सौहार्द से जगमगाती हैं।

हस्तलिखित-चित्रित प्रतिलिपियाँ

चित्रों के साथ संग्रहालय में संस्कृत, हिंदी, अरबी, फ़ारसी और उर्दू भाषा की महत्वपूर्ण किताबों की हस्तलिखित-चित्रित प्रतिलिपियाँ सुंदर ढंग से सजी हुई थीं। पिता जी ने बताया कि हाथ से तैयार की गई ये किताबें छपने से पूर्व अपनी मूल अवस्था में पाण्डुलिपि कहलाती हैं। ये किताबें साहित्य और इतिहास की दृष्टि से निश्चित ही संग्रहणीय थीं। यहाँ संस्कृत में 'भगवद्गीता', 'महाभारत', 'शिवस्रोत', 'दुर्गा सप्तशती', 'गीत गोविंद', 'वेदांत कल्पतरु' जैसे श्रेष्ठ ग्रंथ हैं। हिंदी में 'महाभारत' और 'रामायण' की हाथ से तैयार की गई प्रतिलिपियाँ हैं। मैंने इन्हें देखकर सोचा कि आज हम फ़ोटोकॉपी की सरल, सुविधाजनक तकनीक के माध्यम से झट से प्रतिलिपि तैयार कर लेते हैं, लेकिन उस समय कितनी मेहनत से एक-एक पृष्ठ तैयार किया जाता होगा! किताबों को संरक्षित करने और ज्ञान के प्रसार के लिए लोग हस्तलिखित प्रतिलिपियों का तरीका अपनाते थे। फ़ोटोकॉपी और उस समय की प्रतिलिपियों में एक बड़ा अंतर भी समझ में आया। झटपट प्रतिलिपि निकाल देनेवाली मशीन हाथ के काम की सफ़ाई, हुनर, रंग-संयोजन और सुंदरता का विकल्प कभी नहीं बन सकती।

यहाँ उपलब्ध अरबी, फ़ारसी और उर्दू की प्रसिद्ध एवं चर्चित पुस्तकें हैं— फिरदौसी का 'शाहनामा', बाबर से संबंधित पुस्तक 'वाक्यात बाबरी' जो मूल रूप में तुर्की भाषा में है। यहाँ हुमायूँ के समय की प्रतिलिपि भी है, जो फ़ारसी भाषा में है। इनकी विशिष्टता चित्रों की सुंदरता और कलात्मकता के रूप में भी झाँकती है। यहीं शेख सादी की मशहूर किताब 'गुलिस्ताँ' की प्रतिलिपि भी है, जिसे अलवर के चित्रकारों बलदेव और गुलाम अली खाँ ने तैयार किया है। गुलिस्ताँ का अर्थ है — फूलों का बागीचा और इसे महाराज विनय सिंह के समय में तैयार किया गया था। विशेष बात यह है कि इसके एक पृष्ठ को पूरा करने में पंद्रह दिन लगे और पूरी प्रतिलिपि बारह साल में तैयार हुई। फ़ारसी में नकीब खान द्वारा अनूदित 'महाभारत' की प्रतिलिपि, 'नल दमयंती' की अकबर कालीन





फैज़ी द्वारा अनूदित प्रतिलिपि, फैज़ी द्वारा अनूदित 'सिकंदरनामा' और मुल्ला अब्दुल रहमान जामी कृत 'यूसुफ़ जुलेखा' की प्रतिलिपियाँ भी यहाँ मौजूद हैं।

इनके चित्रों, पृष्ठों, जिल्दों आदि को कड़े परिश्रम से तैयार किया गया है। इन प्रतिलिपियों के लिपिकारों और चित्रकारों के नाम हैं— अशाफ़ाक, याकूब बेग, गुलाम मुस्तफ़ा, अब्दुल्ला बेग, अली बिन अहमद, बलदेव, आगा मिर्ज़ा, मोहम्मद बिन इश्क, शंकरनाथ, रहीम उल्लाह, अब्दुल रसूल और जिल्दसाज़ अलवर के अब्दुल रहमान थे। लिपिकारों ने सुनहरी और चाँदनी स्याही का ही प्रयोग अधिक किया है। चित्रों में लाल, हरे और नीले रंग का सबसे अधिक प्रयोग मिलता है।

ये संग्रह, सांप्रदायिक सद्भाव की एक बड़ी मिसाल हैं। एक ही प्रतिलिपि को तैयार करने में हिंदुओं और मुसलमानों का बराबर का श्रम लगा है। दो भिन्न धर्मों, संस्कृतियों के होते हुए भी इनका उद्देश्य एक ही है— कला के प्रति सच्चा और संपूर्ण समर्पण।

तीशरा झरोखा

संगीत, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला आदि के साथ-साथ अलवर नरेशों की अभिरुचि युद्ध कला में भी थी। इसका जीता-जागता प्रमाण तीसरे कक्ष के रूप में मेरी आँखों के सामने था। विभिन्न अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित इस कक्ष में न सिर्फ़ अलवर नरेशों की युद्ध-सामग्री जमा थी, बल्कि राजपूताना और मुगल साम्राज्य के यानी उत्तर भारत के लगभग सभी राजघरानों के युद्ध कौशल के हथियार यहाँ हैं।

इतने सारे हथियारों को एक साथ देखकर जहाँ मुझे आश्चर्य हो रहा था, वहीं कुछ-कुछ भय भी लग रहा था। मैंने माँ से पूछा, “इतने सारे हथियारों की क्या ज़रूरत थी?” माँ ने समझाया कि “मानव-इतिहास को दो चीज़ों ने बदला है— एक तो इंसानी श्रम ने और दूसरा युद्धों ने।” पिता जी ने कहा, “मेहनत ने दुनिया को रहने लायक बनाया, तो युद्धों ने उसकी खूबसूरती को नरक बना दिया।” हथियारों के इस ज़खीरे के बीच माँ-पिता जी की ये बात सुनकर मुझे लगा कि पिछले दो कक्ष संगीत, साहित्य, चित्रकला, बुनाई, जिल्दसाज़ी ये सभी मेहनत के भिन्न-भिन्न रूप थे और इस कक्ष में करीने से सजे हुए हथियार बीते युगों में हुए संघर्षों, युद्धों की भयावहता को पेश कर रहे हैं।

न जाने कितनी तरह की तलवारें, ढालें, तीर, धनुष, बरछे, शिरस्त्राण, ज़िरह बख्तर, भाले, कमंद, पिस्तौलें, माउज़र, कटार, तोप, गुप्ती, बघनख, संगीनें यहाँ जमा थीं। जिन तलवारों ने किसी समय खून का स्वाद चखा था, आज यहाँ शांत भाव से रखी थीं। तलवारों की प्राणघातक शक्ति का अंदाज़ा उनकी लंबाई, चौड़ाई, कटाव से हो ही रहा था कि हमें 'एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं' वाले मुहावरे को झुठलाती तलवार दिखाई दी। यहाँ ऐसी भी म्यान है, जिसमें दो तलवारें साथ-साथ रहती हैं। मुगल नरेशों में से अकबर और जहाँगीर की तलवारें भी यहाँ हैं, जिन पर उनके चित्र अंकित हैं। दुर्लभ तलवारों में खुरासानी तलवार, ईरानी तलवार, घुमावदार सुलेमानी तलवार, एकदम सीधी खांडा तलवार और लाखों दुश्मनों को मारकर सात-सात युद्ध जीतने वाली लक्खी तलवार इस संग्रहालय की शान है।

हथियारों के इस जंगल में भयभीत घूमते हम बच्चों को राहत की साँस कुछ देर बाद मिली। इस कक्ष में घूम रहे एक परिवार का छोटा-सा बच्चा कुछ माँगने की ज़िद कर रहा था। पहले तो किसी ने भी उस पर ध्यान नहीं दिया, लेकिन जब उसके साथ आए एक वृद्ध सज्जन ने उसे डाँटा, तो सबकी समझ में आया कि माजरा क्या है। दरअसल वह बच्चा शीशे की अलमारी में रखे हुए कवच को लेने की ज़िद कर रहा था। वह इस संग्रहालय को कोई दुकान समझ बैठा था और कवच खरीदकर उसे पहनकर वह खुद को सबसे शक्तिशाली सिद्ध करना चाहता था। हम जब कवच के पास पहुँचे, तो हमें बड़ी हँसी आई, क्योंकि वह मोहम्मद गौरी का कवच था, जिसमें हजारों-हजार गोल छल्ले लगे हुए थे और प्रत्येक छल्ले पर लिखा था- 'नसरूनलिल्लाह बरामंद फ़तह' यानी जंग में खुदा आपकी मदद करे। हम हँस रहे थे और प्रतीक उस लड़के और वृद्ध सज्जन की लड़ाई में लड़के की ओर से बार-बार 'नसरूनलिल्लाह बरामंद फ़तह' का नारा लगा रहा था।

इसी कक्ष से एक जानकारी और मिली कि सन् 1883-84 ईस्वी में अलवर संग्रहालय की नायाब चीज़ों को कलकत्ता की एक प्रदर्शनी में स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया था। मुझे लगा, यह ऐतिहासिक धरोहर आज भी उसी सम्मान की हकदार है। संग्रहालय से लौटते हुए माँ ने तीनों कक्षों पर अपनी टिप्पणी देते हुए हमसे कहा, "मनुष्य ने जितने धीमे और रचनात्मक तरीके से दुनिया को बनाया उतनी तेज़ी से उसे खत्म करने की भूमिका विध्वंसकारी युद्धों ने निभाई।" काश कि इस दुनिया से हम युद्धों का नामोनिशान मिटा सकते! हमेशा हमेशा के लिए।



इस संग्रहालय में न जाने कितने वर्ष और शताब्दियाँ एक साथ पैर पसारे हुए थे। मुझे सभी को एक साथ देखने में अपार हर्ष हो रहा था। फ़ोटो लेने की साफ़ मनाही थी, लेकिन मैंने अनुभव किया कि कैमरे का काम जैसे मेरी आँखें और दिमाग लगातार कर रहे हैं। एक-एक स्मृति को मैं अपने मस्तिष्क में दर्ज कर रही थी और बहुत सारे विवरणों को कागज़ पर लिख चुकी थी। संग्रहालय देखकर निकलते हुए मेरा ध्यान कमरे के झरोखे से बाहर की ओर गया। वहाँ एक और ऐतिहासिक स्मारक हमारी प्रतीक्षा में था।

छतरियाँ और ताल

सिटी पैलेस के पिछवाड़े लाल और सफ़ेद पत्थर की बनी एक शानदार इमारत थी। लोग इसे 'मूसी महारानी की छतरी' के नाम से जानते हैं। यहाँ कोई गाइड तो था नहीं, परंतु पास ही लगे एक बोर्ड से इसके विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिली। सन् 1815 ईस्वी में राजा विनय सिंह ने अपनी माँ मूसी महारानी की स्मृति में यहाँ मूसी महारानी की छतरी और तरणताल सागर का निर्माण करवाया।



तरणताल सागर

तरणताल सागर के दक्षिणी किनारे पर अस्सी खंभों पर टिकी यह कलात्मक छतरी अपनी ओर आकर्षित करती है। यह छतरी राजपूत स्थापत्य कला का अनूठा उदाहरण है। इस छतरी का निचला हिस्सा लाल

बलुए पत्थर से बना हुआ है, जबकि ऊपरी हिस्सा सफ़ेद संगमरमर से। इन दो रंगों की आभा में यह छतरी अद्वितीय लगती है। यहाँ आसपास एकदम शांति है। निचले भाग से ऊपर जाती हुई सीढ़ियों से अंदर जाने पर छतरी के भीतरी गुंबद में बेल-बूटे अभी तक दिखलाई पड़ते हैं। सफ़ेद, सुनहरी और फ़िरोज़ी रंग समय के लंबे अंतराल के कारण फीके पड़ गए हैं या फिर जगह-जगह से उड़ गए हैं। इस भीतरी भाग में 'रामायण' और 'भागवत' के अनेक दृश्य पत्थरों पर उकेरे गए हैं। ऊपरी हिस्से से दूर-दूर तक फैला शहर, पहाड़, हरियाली और बाँहें फैलाता आसमान साफ़ दिखाई देते हैं।



मूसी महारानी की छतरी

इस छतरी के चारों ओर भी लाल पत्थर की छोटी-छोटी छतरियाँ बनी हैं। मुख्य छतरी संगमरमर की है, जबकि गलियारे में बनी छोटी-छोटी आठ छतरियाँ लाल पत्थर से बनी हुई हैं। इनके चारों ओर डिज़ाइनदार जालियाँ भी हैं, जो गलियारे की सीमा निर्धारित करती हैं। वहीं उनकी कला छतरी के सौंदर्य को दोगुना करती जान पड़ती है। चारों ओर पहाड़ों का घेराव, महल का पिछवाड़ा और सागर ताल इस छतरी को भव्यता प्रदान करते हैं। ताल के चारों ओर भी सीढ़ियाँ, गलियारे और छोटी छतरियाँ बनी हुई हैं। स्थापत्य कला के इस आकर्षक हिस्से को देखकर हम लोग आनंद और उल्लास से भर गए।



This is a vertical strip of a larger illustration, rendered in a monochromatic red or terracotta hue. It depicts a desert scene. At the top, a camel with a rider is shown. Below it is a small, domed building. Further down, a cart is visible. The lower portion of the strip shows several figures walking along a path, including one carrying a large bundle on their head and another holding an umbrella. The background features rolling hills and a small, more complex building with multiple domes.

18 / तारा की अलवर यात्रा

पानी के शंभरण

अलवर से लगभग नौ किलोमीटर की दूरी तय करने के बाद, कई छोटे-छोटे गाँवों के बीच से गुज़रने वाले संकरे रास्ते पर हम आगे बढ़ रहे थे। इसी रास्ते पर लिवाल गाँव के ठीक बाद जो दृश्य हमारी आँखों के सामने था, वह अद्भुत था। आसपास अरावली पर्वत शृंखला से घिरा हुआ शांत स्थल और बीच में कई मील तक फैला झील का इलाका, जो जयसमंद के नाम से मशहूर है। इसे महाराज जयसिंह ने बनवाया था। झील के किनारे-किनारे नौ छतरियाँ रास्ते में पड़ती हैं। ये लगभग वैसी ही थीं, जैसी मूसी महारानी और सागर तरणताल पर बनी हुई छतरियाँ थीं। लंबे घुमावदार रास्ते में जगह-जगह पड़ने वाली ये छतरियाँ बेहद आकर्षक हैं। बहुत से परिवार तो इनके नीचे बैठकर पिकनिक मना रहे थे। झील के बीचोंबीच एक जलमहल था, जो किसी समय में अवश्य ही ऐशोआराम का केंद्र रहा होगा, लेकिन अब तो वहाँ केवल खण्डहर बचे हैं। राजस्थान में ही उदयपुर का जलमहल भी हमने देखा है और वह वाकई महल जान पड़ता है। पर्यटकों के लिए वह उदयपुर का मुख्य आकर्षण भी है। अलवर का यह जलमहल उसकी तुलना में एकदम खस्ता हाल है।



बारिश का इंतज़ार करती जयसमंद झील



जयसमंद झील बारिश के दिनों में भरी-पूरी रहती है, लेकिन लोगों ने जानकारी दी कि जब से सिलीसेढ़ में बाँध बना है, यहाँ पानी कम आता है। ज़िले में सिंचाई की दृष्टि से जयसमंद का विशेष महत्व है। कई लोगों ने बताया कि बारिश के दिनों में लबालब भरे पानी के कारण झील के पास बसा हुआ उमरैण गाँव एक टापू की तरह दिखाई देने लगता है। अपार जल के इस स्रोत और राजपूताना शैली में निर्मित कलात्मक छतरियों की वजह से यह स्थान जीवन और कला के बीच एक अटूट रिश्ता बनाता जान पड़ता है। हम सभी देर तक इसके विस्तार और सुंदरता को निहारते रहे।

अब बारी थी— सिलीसेढ़ जाने की। कुछ वर्ष पहले मेरी मौसी अलवर आई थीं। किसी विशेष काम से उनका यहाँ आना हुआ था। इसीलिए जो समय मिला, उसमें उन्होंने एक-दो दर्शनीय स्थल देख डाले। सिलीसेढ़ भी उनमें से एक था। अपनी इस यात्रा से पहले मैंने जब मौसी से सिलीसेढ़ के बारे में पूछा तो एक रोचक जानकारी उन्होंने मुझे दी। उन्होंने बताया कि बंदरों-लंगूरों से भरा हुआ रास्ता जाता है, सिलीसेढ़ को। इधर यात्रियों के पास खाने-पीने का सामान देखा नहीं कि झपट्टा मारा और सामान गायब। चटोरे झपट्टामार बंदरों की जानकारी भी मेरे पास थी। इसीलिए मैंने प्रतीक और छाया को सचेत कर दिया कि अब खाना-पीना कुछ देर के लिए बंद कर दें।



पहाड़ों से घिरी सिलीसेढ़ झील

मौसी की बताई हुई बात बिलकुल सच निकली। रास्ते में अपने नाना-नानी, दादा-दादी की गोद में लाड़ले बंदर-बंदरियाँ शरारतें कर रहे थे। चाचा-चाची, माता-पिता, मौसी-मामा ज़रूरी काम निपटा रहे थे और हर चिंता से दूर नवजात शिशु बंदर मस्ती में उछल-कूद कर रहे थे। गाड़ी कई बार रोकनी पड़ी। बंदरों के इलाके से काफ़ी आगे रास्ते में एक लंगूर मंडली जाने किन समस्याओं पर विचार कर रही थी और हटने का नाम ही नहीं ले रही थी। ऐसा लगा मानो वे सभी हमसे इस मार्ग का शुल्क माँग रहे हों। सिलीसेढ़ अलवर से सोलह-सत्रह किलोमीटर के फ़ासले पर स्थित है। सिलीसेढ़ वास्तव में एक झील का नाम है और यह भी बेहद विस्तार लिए हुए है। तीन ओर से पहाड़ों से घिरी इस झील पर जब हम पहुँचे, तो मौसम एकाएक बदल गया। हवा में ठंडक तैरने लगी और आसमान पर बादल छा गए। इस मौसम और हल्की बूँदा-बाँदी में झील निखरकर और सुंदर दिखने लगी।

यह झील सन् 1845 ईस्वी में तत्कालीन अलवर नरेश विनयसिंह ने बनवाई थी। दो पहाड़ों के बीच बाँध बनाकर इस झील का निर्माण हुआ था। सिलीसेढ़ के नामकरण से संबंधित कुछ बातें भी हमें पता चलीं। एक तो नज्दीक ही सीतला माता (जिन्हें श्रद्धा और प्रेम से लोग सिली माता भी कहते हैं) के मंदिर का होना इस जगह के सिलीसेढ़ नाम का कारण माना जा सकता है। दूसरी जरूरी जानकारी यह थी कि इस जगह पर सीला नाम की एक लड़की रहती थी, जिससे राजा विनयसिंह ने विवाह किया था। सन् 1845 में ही झील और उसके एक ओर महल बनवाकर बतौर उपहार राजा विनयसिंह ने सीला को दिया था। यही कारण है कि इस जगह का नाम सिलीसेढ़ पड़ा।

एक ओर महल और तीन ओर उन्मुक्त, ऊँची पहाड़ियों के बीच स्थित झील का सौंदर्य देखते ही बनता है! इसका नीला जल ऐसा लगता है मानो आकाश ने धरती को गोद में ले लिया हो। इस गहरी झील में मगरमच्छ भी पाए जाते हैं। मगरमच्छ के भय से दूर बहुत सारे लोग नौका-विहार का आनंद उठा रहे थे। सीला का महल अब भी वहाँ है, लेकिन राजस्थान पर्यटन विकास निगम ने उसे होटल में बदल दिया है। होटल देखने की इच्छा हमें नहीं थी और हम होटल के प्रांगण से ही जो सीढ़ियाँ नीचे झील की ओर जा रही थीं, वहाँ चल पड़े। बहुत देर तक सीढ़ियों पर बैठकर हम झील की सुंदरता को निहारते रहे। झील के पानी में पैर डालकर बैठने का आनंद ही कुछ और है। प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से यह झील मुझे माउंट आबू की नक्की झील से अधिक अच्छी



लगी। वहाँ आसपास बाज़ार-ही-बाज़ार था और यहाँ दूर-दूर तक फैली शांति और प्राकृतिक छटा। झील के करीब होने के कारण मुझे मगरमच्छ का भय भी सता रहा था, परंतु वहाँ के लोगों ने बताया कि अब तक किसी भी व्यक्ति या परिवार के साथ ऐसी दुर्घटना नहीं घटी है। निर्भय होकर झील में किए गए नौका-विहार का आनंद शब्दों में बता पाना मेरे लिए बड़ा ही कठिन काम है।

बाज़ार की रौनक

सिलीसेढ़ से वापिस लौटने का मन तो नहीं हो रहा था, लेकिन हर आनंद एक निश्चित सीमा से बँधा होता है। फिर भूख भी लग रही थी और आसपास खाने-पीने की दुकानें तो दूर कोई खोंमचेवाला भी दिखाई नहीं दे रहा था। छिटपुट सामान तो था हमारे पास परंतु दाल-रोटी का कोई विकल्प नहीं। इसलिए हमने वापसी की ओर रुख किया और बंदरों के कुनबों को अलविदा कहते हुए लौट आए अलवर। आज के कार्यक्रम में अभी होप सर्कस देखना शेष था।

होप सर्कस अलवर शहर का हृदय कहलाता है। शहर के बीच में कमल की आकृति में खिला हुआ होप सर्कस वास्तव में खरीदारी का केंद्र है। इस गोल चक्कर के सभी तरफ़ जाने वाले रास्ते बाज़ार से पटे पड़े हैं। एक गली कपड़ा बाज़ार की तरफ़ जा रही है, तो दूसरी चूड़ी बाज़ार की ओर। कहीं दुकानदार जूते-चप्पल खरीदनेवालों की फ़रमाइशें पूरी कर रहे हैं तो कहीं स्टील के बर्तन, बिजली के विभिन्न उपकरणों की माँग हो रही है। खाना-पीना तो हर जगह चल ही रहा है। यह कोई मामूली बाज़ार नहीं था। दिल्ली के चाँदनी चौक को जिसने देखा है, उसे यह बाज़ार चाँदनी चौक के बाज़ार जैसा ही जान पड़ेगा। मुख्य सड़क और उससे फूटतीं अनेक संकरी गलियाँ। लोगों की आवाजाही, पतली गलियों में सजी-धजी दुकानें, दिन में भी जगह-जगह जलते तेज़ रोशनी के बल्ब। विशिष्ट बात यह कि यहाँ एक ही चीज़ की कई-कई दुकानें एक साथ हैं। यही कारण है कि मोलभाव, गुणवत्ता, मात्रा और नए चलन की दृष्टि से यहाँ ग्राहक के निराश होने का सवाल ही नहीं है।

खाने के बाद सभी उत्साहित थे बाज़ार की रौनक देखने के लिए। यह उत्साह तब और बढ़ गया जब माँ ने कहा, “अगर चाहो तो कुछ खरीद भी सकते हो अपने लिए।” माँ की इस बात ने चिंता में भी डाल दिया। इतनी सारी चीज़ों के बीच हम क्या लें अपने लिए। पिता जी ने

एक सलाह झटपट दे डाली कि पहले कुछ घूम लो, फिर देखकर तय करो कि क्या लेना है तुम्हें अपने लिए। अब हमने धैर्यपूर्वक बाज़ार में घूमकर देखा तो पाया कि मुझे, माँ और छाया को लाख के कढ़े, चूड़ियाँ और राजस्थानी जूतियाँ अपनी ओर खींच रहे हैं। डिज़ाइनदार, रंग-बिरंगी, काँच और सुनहरी पती चढ़ी लाख की चूड़ियों की बात ही निराली है। बहुत-सी दुकानों के बाहर यहाँ कुशल और हुनरमंद कारीगर भी बैठे हुए थे, जो चूड़ी-कढ़े बनाने में व्यस्त थे। हमने कुछ देर उनके काम को भी दिलचस्पी से देखा। बाद में माँ के सहयोग से हमने खरीदारी की। इसके बाद हम लोग आगे बढ़े तो सर्राफ़ा बाज़ार पड़ा। यहाँ ज़ेवरों की कई दुकानें थीं। यहीं से आगे बैण्डवालों, मिठाई, आढ़तियों आदि की कई दुकानें थीं। आगे बढ़ने पर हवेलीनुमा घर भी दिखाई दिए, जो शहर के अति आधुनिक घरों से एकदम भिन्न थे। यहाँ मिली कई औरतों का पहनावा ठेठ राजस्थानी था। कुर्ती या चोली, लहंगा-ओढ़नी में कई महिलाएँ घूमती और काम करती हुई दिखाई दीं। थोड़ा आगे और चढ़ाई का रास्ता चढ़ने के बाद हमें जगह बहुत जानी-पहचानी प्रतीत हुई। एकाएक खुशी के मारे हमारी चीख निकल गई, क्योंकि सबको याद आ गया कि कुछ दूरी पर ही तो सिटी पैलेस है।

यहाँ पहुँचने का एक लाभ भी हमें हुआ। पहले सिटी पैलेस के मोह में हम अहाते में बने हुए चार मंदिर देख ही नहीं सके थे। आज यह दूसरा मौका हमें शायद इसीलिए मिला था। यँ तो अलवर में अनेक देवी-देवताओं के मंदिर हैं, परंतु यहाँ के मंदिर ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। इनके नाम हैं- श्री बनरूप बिहारी का मंदिर, गोविंद देव जी का मंदिर, बृजनंदन महाराज जी का मंदिर और दादी जी का मंदिर। बनरूप बिहारी यँ तो राधा-कृष्ण का मंदिर है, फिर भी एक अन्य ज़रूरी जानकारी भी हमें मिली। यह मंदिर महाराज विनय सिंह ने बनवाया था। राजा का नाम यहाँ के स्थानीय लोगों द्वारा बनेसिंह के रूप में उच्चरित किया जाता रहा है। रूपकँवर बनेसिंह की रानी थीं। इसलिए दोनों के नाम को संयुक्त करके मंदिर का नामकरण बनरूप बिहारी हुआ। यह मंदिर सिटी पैलेस से साफ़ दिखाई देता है और लोग बताते हैं कि रानी रूपकँवर महल से ही मंदिर की ओर हाथ जोड़कर सुबह की शुरुआत करती थीं।

महाराज विनय सिंह ने दादी जी का मंदिर भी बनवाया। उनकी दादी ने यह इच्छा प्रकट की थी और राजा ने उसे पूरा किया। एक और जानकारी भी इस मंदिर के विषय में मिली कि भक्तिकाल में संतकाव्यधारा के संत दादू के पंथ पर इसके नियम श्री नाथद्वारा उदयपुर से संचालित होते



अलवर से कहीं भी यात्रा के लिए निकलें, सभी जगह रास्ते खुले और भीड़-भाड़ से रहित हैं। छत्तीस किलोमीटर की दूरी हमने लगभग पौने घंटे में ही तय कर डाली, जबकि दिल्ली में हमें इस दूरी के लिए दो घंटे का समय लग ही जाता है। यहाँ न यातायात की मारा-मारी थी, न ही लंबे समय तक वाहनों को रोके रखने वाली लाल बत्तियाँ। रास्ते में जंगल की कल्पनाएँ करते, बातें करते, गाते-गुनगुनाते हुए हम सरिस्का

पहुँचे। जगह-जगह सरिस्का तक पहुँचने के निर्देश विभिन्न सूचना-पटों पर मिलते रहे, जिनके कारण हमें कोई परेशानी नहीं हुई। यात्रा का आनंद उठाते हुए अब हम वन-विभाग के कार्यालय में दाखिल हुए। यहाँ से हमने अभयारण्य में प्रवेश के लिए टिकट लिए। निजी वाहन और साथ लाए गए कैमरे के लिए भी अलग से टिकट लेनी पड़ती है।

हमें एक कमी भी खल रही थी कि काश हमारे साथ कोई ऐसा व्यक्ति होता, जो सरिस्का घुमाने में हमारा मददगार हो पाता। पिता जी ने इस समस्या को काफ़ी हद तक सुलझाया। टिकट खिड़की जिस एकमोज़िला कार्यालय में थी, वहीं वन अधिकारी का भी कक्ष था। पिता जी हम सबको लेकर बेधड़क उनके कमरे में घुस गए। अपना और माँ का परिचय देने के बाद पिता जी ने उनसे सरिस्का अभयारण्य संबंधी ज़रूरी जानकारियाँ एकत्र कीं।

वन अधिकारी महोदय ने हार्दिकता से हमारा स्वागत किया और विस्तारपूर्वक जंगल की जलवायु, पहाड़ियों, पशु-पक्षियों से जुड़ी कई दुर्लभ जानकारियाँ हमें दीं। उन्होंने हमें बताया कि सरिस्का घूमने का सबसे अच्छा समय नवंबर माह से मार्च के बीच का है। सर्दियों में कभी-कभी तापमान शून्य से भी नीचे गिर जाता है और ओस-कण बरफ़ का रूप लेकर हीरों के मानिंद पत्तियों पर बिखर जाते हैं। इन महीनों में जंगल का मौसम खुशगवार रहता है और पशु-पक्षी जो भीषण गरमी में जंगल की गहराइयों में चले जाते हैं, इन महीनों में उनके दर्शन सुलभ हो जाते हैं। अप्रैल माह से जून तक सरिस्का लू की चपेट में रहता है और तापमान चालीस डिग्री से ऊपर पहुँच जाता है। इस समय के बीच सरिस्का सूखे जंगल में बदल जाता है और पतझड़ी जंगल का रूप धारण कर लेता है। जुलाई माह से सितंबर के बीच यहाँ वर्षा की बहार रहती है। यहाँ बारिश का वार्षिक औसत करीब 650 मिलीमीटर है। वर्षा के दौरान पशु-पक्षी आसानी से देखने को मिल जाते हैं। हम कुछ निराश हुए कि अप्रैल माह के प्रथम सप्ताह में यहाँ आए, परंतु हमारी निराशा जल्दी ही आशा में बदल गई, जब हमें पता चला कि घूमने की दृष्टि से मौसम अभी बहुत बुरा नहीं है।

जलवायु के अतिरिक्त सरिस्का के इतिहास से संबंधित कुछ ज़रूरी जानकारियाँ भी हमें मिलीं। सन् 1885 ईस्वी में तत्कालीन अलवर नरेश मंगल सिंह ने सरिस्का को अपनी शिकारगाह घोषित किया था। यह वह समय था जब जंगल बाघों से भरपूर था। यहाँ ब्रिटिश अधिकारी एवं अन्य देसी राजा-महाराजा बाघ के शिकार के लिए आमंत्रित किए जाते



थे। इंग्लैण्ड की रानी विक्टोरिया के पुत्र ड्यूक ऑफ कनॉट ने भी यहाँ के शाही शिकार में भाग लिया था। आज़ादी के बाद सन् 1953 ईस्वी में राजस्थान वन अधिनियम के लागू होने पर सरिस्का की इस शिकारगाह को संरक्षित क्षेत्र में बदल दिया गया। अब वहाँ जंगल के संसाधनों को नष्ट करने और शिकार करने पर पाबंदी लगा दी गई है। आगे चलकर सन् 1958 ईस्वी में इसे वन्यजीव अभयारण्य घोषित किया गया और सन् 1979 ईस्वी में सरिस्का को 'बाघ परियोजना' में शामिल कर लिया गया। इसी क्रम में सन् 1982 ईस्वी में सरिस्का को राष्ट्रीय उद्यान बनाने की प्रारंभिक घोषणा की गई।

मेरे मन में एक सवाल उठा कि मध्य प्रदेश के जंगल जिमकॉर्बेट को राष्ट्रीय उद्यान कहा जाता है, लेकिन सरिस्का को अभी तक यह विशेष दर्जा क्यों नहीं दिया गया? मेरी इस जिज्ञासा की शांति तब हुई, जब मुझे यह बताया गया कि सरिस्का क्षेत्र के भीतर अभी कुछ गाँव बसे हुए हैं और जब तक ये गाँव हैं, इसे सरिस्का राष्ट्रीय उद्यान घोषित नहीं किया जा सकता। सरिस्का 866 वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है। इस क्षेत्र का 480 वर्ग किलोमीटर मुख्य क्षेत्र या 'कोर क्षेत्र' कहलाता है, जहाँ ग्रामवासियों को लकड़ी काटने, पशु चराने की मनाही है, बाकी 386 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र कोर संख्या दो और तीन का हिस्सा है। यहाँ से ग्रामवासी अनेक ज़रूरतों के लिए जंगल की उपज का प्रयोग कर सकते हैं। इस हिस्से में कालीखाली के आरक्षित वन, पानीढाल का वन क्षेत्र, अजबगढ़, भानगढ़, सीली बावड़ी, नारायण जी, खोह के जंगल आदि आते हैं। मुख्य क्षेत्र में काली घाटी, काँकवाड़ी, गानका, उदयनाथ, पांडुपोल, ऊमरी, देवरी, किरास्का आदि गाँव आते हैं। हमें पता चला कि यहाँ बसे हुए 'करणा का बास' नामक गाँव को अन्यत्र स्थानांतरित किया जा चुका है।

“गाँव का स्थानांतरण!” छाया का मुँह आश्चर्य से खुला का खुला रह गया। हमें पता चला कि जल्दी ही काँकवाड़ी, भगानी फिर किरास्का, ऊमरी और हरिपुरा गाँवों को भी स्थानांतरित किए जाने की योजना है। उसी के बाद यह क्षेत्र पूरे तौर पर राष्ट्रीय उद्यान का रूप ले सकेगा। मुझे अपने सवाल का जवाब तो मिल गया था, परंतु कुछ और सवालों का जंगल भी मन की भूमि पर उग आया था। उन ग्रामवासियों का क्या होगा, जो भविष्य में अपनी जड़ों से कट जाएँगे? और इसी से जुड़े ढेरों सवाल! परंतु मेरे भीतर उगा यह जंगल औरों से इतना दूर था कि इसे कोई भी नहीं देख पाया।

प्रतीक बड़ी देर से धैर्य धरे बैठा था। उसे इस बातचीत से अधिक जंगल देखने में दिलचस्पी थी। बातचीत में जा रहा समय उसे अपने समय की बरबादी लग रहा था। हमारी बातों का शीघ्र अंत न होते देखकर उसने अपनी रुचि का प्रश्न सामने रखा। जंगल के पशुओं के विषय में उसने वनाधिकारी से पूछताछ की। पिता जी और माँ ने पूरी यात्रा में पहली बार एक गर्व भरी दृष्टि से अपने बेटे को देखा। वाकई उसका प्रश्न हमारे लिए उपयोगी था। हमें बताया गया कि वैसे तो सरिस्का की शान बाघ ही है और दूर-दराज़ से लोग उसे देखने आते हैं, लेकिन पिछले डेढ़ वर्ष से किसी भी सैलानी को बाघ के दर्शन नहीं हुए। बाघ के विषय में भी हमें पता चला कि वह बड़ा ही संवेदनशील पशु है। अगर चार बाघों का एक समूह जंगल में है और उनमें से एक भी कहीं गायब या लापता हो जाता है, तो अन्य बाघ दुखी होकर कहीं और जा बसते हैं। इस तरह एक तो बाघ की संवेदनशील प्रवृत्ति और दूसरे बड़े पैमाने पर होने वाले शिकार के चलते बाघ की दृष्टि से सरिस्का एक निर्धन वन में परिवर्तित हो गया है।

पशुओं में ऐसा ही हाल चिंकारा का भी हुआ है। पहले सरिस्का में चिंकारा बड़े पैमाने पर थे लेकिन अब नहीं। चीतल और सांभर-हिरणों की ये प्रजातियाँ इस जंगल में भरपूर हैं। इन दोनों प्रजातियों के हिरण अस्थायी सींग वाले होते हैं। इन्हें 'एण्टलर' कहा जाता है, क्योंकि इनके सींग गिरते हैं और फिर नए आ जाते हैं। नील गाय भी इस जंगल में बड़ी संख्या में मौजूद है। इसे 'एण्टिलोप' कहा जाता है, क्योंकि इसके सींग स्थायी होते हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ जंगली सूअर, सियार, जंगली बिल्ली, नेवले भी बहुतायत में हैं। अन्य माँसाहारी पशुओं में लकड़बग्घा और तेंदुआ यहाँ हैं। फ़रवरी 2006 की गणना के आधार पर यहाँ पचास के करीब तेंदुए हैं। अजगर भी इस जंगल में पाए जाते हैं, जो मुख्यतया सर्पियों में ही दिखाई पड़ते हैं। खरगोश, जरख, रोजड़, चौसिंघ या चार सींगों वाले मृग यहाँ के प्रमुख वन्य जीव हैं। सरिस्का में लंगूर और बंदर बहुत अधिक हैं।

पशुओं के साथ-साथ पक्षियों के विषय में भी कुछ जानकारीयाँ प्राप्त हुईं। कालीघाटी, जो सरिस्का का क्षेत्र है, राष्ट्रीय पक्षी मोर की दृष्टि से देशभर में प्रसिद्ध है। मोर के अतिरिक्त तीतर, बुलबुल, तोते, बटेर, चील, जंगली मुर्गी, बाज़, फ़ाख़्ता, उल्लू आदि पक्षियों से यह जंगल आबाद है।

जंगल का भौगोलिक विस्तार, जलवायु, पशु-पक्षियों संबंधी जानकारी देने के बाद हमें राजस्थान वन विभाग के मासिक पत्र 'वानिकी समाचार'



के कुछ अंक भी भेंट किए गए। इसके बाद हमें जंगल की ओर प्रस्थान करने के आवश्यक निर्देश भी मिले। चूँकि हम निजी वाहन से जा रहे थे, सो हमें बताया गया कि हम सरिस्का के भीतर बनी पक्की सड़क पर ही चलते जाएँ। कच्चे रास्ते पर उतरने से रास्ता भटक जाने का खतरा है। इस बात ने तो जैसे हम सभी को दुविधा में डाल दिया। माँ से रहा नहीं गया और उन्होंने पूछा कि क्या पक्की सड़क पर हमें पशु-पक्षियों के दर्शन हो सकेंगे? जवाब यही था कि गाड़ी की रफ्तार धीमी रखिए। आपको आसपास बहुत कुछ दिख जाएगा। हमें पता चला कि कच्चा रास्ता जोखिम भरा है और वहाँ उतरने के लिए साथ में कोई अनुभवी व्यक्ति चाहिए। जंगल की इस सड़क पर लगभग बीस किलोमीटर के बाद एक दर्शनीय स्थल पाण्डुपोल को अवश्य देखने की सलाह भी हमें दी गई। जंगल की ओर रवाना होने से पूर्व हमने वन अधिकारी महोदय का आभार व्यक्त किया और उन्होंने हमें शुभकामनाएँ दीं।

दिन के ठीक बारह बजे थे। आसमान में कुछ बादल छाए हुए थे। कल बूँदा-बाँदी हो चुकी थी। इसलिए हवा में ठंडक थी। अब गाड़ी ने सरिस्का के रास्ते पर रफ्तार पकड़ ली। सरिस्का में प्रवेश से पूर्व कर्मचारियों ने हमारी टिकटों की जाँच की और एक लंबी सूची भी हमें दी गई, जिसमें जंगल की यात्रा संबंधी आवश्यक निर्देश थे। प्रकृति के इस स्वच्छंद वातावरण में प्रवेश करने से पूर्व दिए गए निर्देशों को पढ़कर हम सभी ने महसूस किया कि हम जंगल देखने जा जरूर रहे हैं, परंतु हमारा आनंद पशु-पक्षियों के जीवन में कोई भी व्यवधान डालने वाला नहीं होना चाहिए। सामान्य-सी बात है कि हम भी अपने घर में राजा होते हैं और घर आने वाला अतिथि हमारी आदतों के अनुसार थोड़ा-बहुत स्वयं को ढाल लेता है। ठीक इसी तरह हम सभी सरिस्का के अतिथि बनकर ही जंगल में प्रवेश करें, न कि पशु-पक्षियों के घर पर कब्जा जमाने की मानसिकता को लेकर। हमारे घूमने-फिरने से उनके विचरण, खान-पान आदि के तरीके में बाधा न पड़े, यही इस जंगल के प्रति और वन्य जीवों के प्रति हमारा सच्चा प्रेम और अपनत्व होगा।

निर्देशों में भी कई बातें एकदम साफ़ थीं, जैसे— जंगल के रास्ते में गाड़ी से उतरना नहीं है और उस पर पैदल तो बिलकुल नहीं चलना है। पशु-पक्षियों को खाने-पीने की चीजें देने की सख्त मनाही थी। सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के बाद जंगल में रहना वर्जित था। पशुओं से एक निश्चित, सावधानी से युक्त दूरी बरतने और रास्ते में आने वाले पशुओं का समुचित सम्मान करते हुए अपना वाहन रोककर उन्हें रास्ता देने वाली

बात बेहद ज़रूरी थी। आखिरकार घर उनका है, अधिकार भी उनके हैं।
वैसे भी जंगल प्रत्येक व्यक्ति से इसी संवेदनशील मन की माँग करते हैं।

जंगल का रोमांच

हम अब सरिस्का के भीतर प्रवेश कर चुके थे। पतली-सी सड़क पर हम एक रोमांचकारी अनुभव का हिस्सा बनते आगे बढ़ रहे थे। सरिस्का अरावली की पहाड़ियों की गोद में फैला हुआ है। विश्व की प्राचीनतम पर्वत-शृंखला के बीच विस्तार लिए सरिस्का के जंगल को देखने का अनुभव अनूठा है। पहाड़ियों की ऊँचाई दूर से एक समान दिखाई देती है और पंक्तिबद्ध रूप में खड़ी ये अडिग चट्टानें सरिस्का को एक मज़बूत दीवार के सुरक्षित घेरे में लिए हुए प्रतीत होती हैं। इन पहाड़ियों पर पेड़ काफ़ी अधिक संख्या में हैं। एक और विशिष्टता इन पहाड़ियों की यह भी है कि इनके शीर्ष पर नोकदार, ऊँची चोटियाँ नहीं हैं बल्कि यहाँ की पहाड़ियाँ शीर्ष पर कहीं सपाट, कहीं गोलाकार तो कहीं अर्द्धचंद्राकार अधिक हैं। सरिस्का में ही काँकवाड़ी और किरास्का नामक दो बड़े पठार हैं और साथ ही कालीघाटी, ऊमरी, पाण्डुपोल, रईका, बांदीपुल, घमोड़ी, कुशालगढ़ जैसी घाटियाँ भी हैं।

दूर-दूर तक चली जा रही सड़क के दोनों ओर से जंगल का करीबी नज़ारा दिख रहा था। अब तक पढ़े-सुने और देखे गए सभी किस्से-कहानियों के जंगल इस साक्षात् जंगल के समक्ष एकदम फीके और बेजान मालूम पड़ रहे थे। मन की स्थिति भी विचित्र हो रही थी। एक ओर तो मन नयी जगह के लिए पुलकित था, जंगल की इस नवीन अनुभूति के प्रति बेहद उत्साहित था, लेकिन साथ ही साथ जंगल की इस पहली यात्रा से हृदय की धड़कन सामान्य नहीं थी। एक हल्की भयमिश्रित मुसकान हम सभी के चेहरों पर खेल रही थी। आने वाले हर अगले रोमांचकारी पल के लिए धड़कन के आरोह-अवरोह का यह नया क्रम सभी को प्रभावित कर रहा था। हमारी आँखों में भरपूर शक्ति आ गई थी और वे दोगुने वेग से सक्रिय थीं। पलकें भी सामान्य गति से नहीं झपक रही थीं। आँखों में एक अजीब-सी बेचैनी थी। सारे दृश्यों को कैद कर लेने की, बल्कि एक भी दृश्य को अनदेखा न छोड़ देने की ज़िद ठान बैठी थीं हमारी आँखें। हममें से हर कोई अपने तौर पर जंगल का आनंद उठा रहा था।





गाड़ी की रफ्तार पिता जी ने बहुत धीमी कर रखी थी। जंगल में अनेकानेक झाड़ियाँ और ऊँची, सूखी घास थी। जैसाकि हमें बताया ही गया था कि गरमी के दिनों का जंगल बरसात के हरियाले जंगल की तुलना में एकदम सूखा-पतझड़ी जंगल लगता है, इस समय सरिस्का ऐसा ही दिख रहा था। जंगल की धरती सूखी पड़ी थी। फैलाव की दृष्टि से जंगल असीमित था, परंतु बीहड़ इतना नहीं था कि हाथ को हाथ न सूझे और घने वृक्षों की छतरी धूप को ज़मीन पर न पड़ने दे। दिन के समय भी जंगल में घना अंधकार पसरा हो, ऐसा नहीं था। वृक्षों की संख्या अधिक थी। गरमी थी, लेकिन हवा भी चल रही थी। इसलिए न तो उमस से उपजने वाली चिपचिपाहट थी और न ही हमारे हाल बेहाल थे। एक आशंका हमें लगातार घेरे हुए थी कि यह न तो सरदी का मौसम है और न बरसात का तो ऐसे में हमें पशु-पक्षी दिख पाएँगे या नहीं?

रास्ते में हमारी ही तरह जंगल देखने आए कई और लोग भी हमारे आगे-पीछे, कुछ-कुछ दूरी पर थे। थोड़ा रास्ता बीता तो अचानक छाया की चीख सुनाई दी— “उधर देखो, पेड़ों की छाया में।” पिता जी ने गाड़ी रोक दी और हम सब दिल को थामे उस दिशा की ओर देखने लगे। छाया की चीख ने सभी को काफ़ी रोमांचित कर दिया था और वह दृश्य देखकर तो रोमांच दोगुना हो गया। सड़क से भीतर की ओर जाते हुए जंगल में, पेड़ों के झुरमुट में तीन-चार मोर आराम कर रहे थे। हम सभी टकटकी बाँधे उस झुंड को देखते रहे। उन्होंने भी हमें पूरा मौका दिया। न उन्हें कहीं और जाने की जल्दी थी, न ही हमें उन्हें छोड़कर आगे बढ़ने की चिंता थी। उनके मुँह हमारी तरफ़ नहीं थे। शायद इसीलिए वे हमें देखकर डर से भागे नहीं। मोर की गर्दन के चटख नीले-फिरोज़ी रंग मन को मोह रहे थे। उनके लंबे पंखों पर बने हुए चाँद भी एकदम साफ़ दिखलाई पड़ रहे थे। यों भी यह जंगल मोरों की संख्या की दृष्टि से विशिष्ट है।

इस दृश्य को धैर्यपूर्वक देखने के बाद हम लोगों ने यात्रा जारी रखी। परंतु अब यात्रा का रूप वह नहीं रहा था जो शुरू में था। मन में आत्मविश्वास की जड़ें उग आई थीं कि सरिस्का हमें खाली हाथ नहीं लौटने देगा। मन दोगुने वेग से उत्साहित था और सभी इंद्रियाँ चाक-चौबंद। इंद्रियों के नाम पर आँखें ही सभी कार्य कर रही हों, ऐसा नहीं था। कान और नाक भी आँखों की भाँति सक्रिय थे। जंगल में धीमी रफ्तार से गुज़रते हुए भले ही बड़ी संख्या में पशु-पक्षी न दिखाई दें, लेकिन इस अपार शांति में ध्यान से सुना जाए तो जंगल का संगीत कानों से टकराता है।

ऐसा संगीत जिसमें पक्षियों का कलरव है, पेड़ों के तनों को छूकर निकल रही हवा की ताल है और इस ताल पर पत्तों की सरसराहट के शब्द हैं। कहीं दूर कुलाँचे भरते हुए हिरणों का स्वर तो कहीं आकाश में बाज़, तोता, गौरैया, चील तथा अन्य पक्षियों की तीखी-मीठी ध्वनियाँ! संगीत के तार सप्तक और मंद्र सप्तक के स्वर एक साथ। चार-पाँच किलोमीटर का रास्ता पार करने के बाद पिता जी ने अचानक गाड़ी रोक दी। हमें लगा कि उन्हें कोई अन्य वन्य प्राणी दिख गया है, परंतु ऐसा नहीं था। उन्होंने कहा, “अब अपनी आँखें बंद कर लो और ध्यान से जंगल में गूँजती हुई आवाजों को सुनो।” सचमुच वह अनुभव बयान की हद से परे है। जंगल के बीच जंगल को सुनना, एक-एक ध्वनि को पकड़ना और अन्य ध्वनियों में से किसी खास पर अपना ध्यान केंद्रित करना— यह सब ताज़गी से भरपूर था। प्रकृति की गोद में जाकर ही उसकी गतिविधियों से हम पूरी तरह परिचित हो सकते हैं। किसी और के वर्णन कर देने भर से ही उसका अनुभव हमारे अनुभव जगत का अंश नहीं बन पाता है।

जंगल की ध्वनियों का पीछा करते हुए हम कुछ और आगे बढ़े। थोड़ी दूर सड़क के किनारे, पेड़ों के झुरमुट में कुछ हरकत-सी दिखाई दी। ये पेड़ हवा से नहीं हिल रहे थे, बल्कि ऐसा लगा कि कोई अपनी समूची ताकत लगाकर उन्हें हिला रहा है। गाड़ी रोककर हम दम साधकर बैठ गए। अचानक झुरमुट से एक जानवर निकला। हमारा कैमरा तैयार था। ज्यों ही मैंने उसका फ़ोटो लेने के लिए प्रतीक से ज़ोर से कहा कि ‘ठीक



एंटिलोप परिवार का सबसे बड़ा सदस्य – नीलगाय





तरह लेना', मेरे शब्द उस जानवर के कानों से टकराए और वह कूदता हुआ सड़क पार कर के दूसरी तरफ के जंगल की ओर भाग गया। बड़ा विचित्र-सा जानवर था। उसके दौड़ने-भागने की हरकतें घोड़े से बिलकुल मिलती-जुलती थीं। पैरों में खुर भी थे। माँ ने हमारी जिज्ञासा को शांत करते हुए बताया, "यही नील गाय है।" हम तीनों के मुँह से एक-साथ निकला "गाय?" दिखने में घोड़े जैसी और नाम नील गाय! दोनों ही शब्द उस जानवर को देखकर गले नहीं उतर रहे थे। न ही वह नीले रंग की थी और न ही गाय जैसी। पिता जी ने बताया कि एंटिलोप परिवार का यह सबसे बड़ा सदस्य है। माँ ने एक और बात भी बताई कि नर नीलगाय की पहचान उसके सींग और दाढ़ी से होती है।

सरिस्का की यात्रा से पूर्व बाघ की स्थिति हमें स्पष्ट कर दी गई थी। पिछले लगभग डेढ़ वर्ष से किसी भी सैलानी ने यहाँ बाघ नहीं देखा था, लेकिन हम उत्साही लोगों को लगने लगा था कि शायद हम ही वे भाग्यशाली साबित होंगे, जिन्हें बाघ के दर्शन होंगे। इसी उम्मीद को मन में बसाए हम फिर आगे बढ़ने लगे। रास्ते में कई जगह मोर-मोरनियाँ दिखाई दिए जो हमारे आगमन के प्रति उदासीन थे और अपनी दैनिक क्रियाओं में व्यस्त थे। इनकी गतिविधियाँ देखने लायक थीं। एक मोर चोंच से दूसरे मोर की गर्दन पर लगातार वार कर रहा था तो एक अन्य मोर जल्दी-जल्दी दूसरे को पकड़ने की कोशिश में पेड़ों के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहा था। कुछ मोर शांत भाव से बैठे हुए थे मानो किसी गंभीर समस्या का हल ढूँढ़ रहे हों। हमने सुना था कि यह जंगल मोरों से भरा हुआ है लेकिन हमें ऐसा महसूस हो नहीं रहा था। मोर थे पर बहुत अधिक दिखलाई नहीं दे रहे थे। हाँ लंगूर और बंदर यहाँ बहुत भारी संख्या में हैं। कुछ दूरी पर बंदरों के झुण्ड तो आगे लंगूरों की बस्ती। सभी अपने-अपने कामों में मस्त।

रास्ते में हमें वन-विभाग के दो कर्मचारी मिले, जिनमें से एक ने पिता जी से निवेदन किया कि वे उन्हें आगे तक छोड़ दें। ये व्यक्ति जंगल से अच्छी तरह परिचित थे। जंगल के कच्चे-पक्के रास्तों के अतिरिक्त जंगली वनस्पति के विषय में उनका ज्ञान विशद् था। उनसे बातचीत का सिलसिला आरंभ होते ही हमें लगने लगा कि इनकी उपस्थिति हमारे लिए बहुत लाभप्रद साबित हुई। हमें पता चला कि यहाँ पेड़-पौधों की कई प्रजातियाँ और उपजातियाँ हैं। सरिस्का में मुख्य रूप से ढोक का पेड़ ही पाया जाता है। इसकी शाखाओं पर छोटी-छोटी पत्तियाँ होती हैं। सूखे, गरमी के मौसम में ये शाखाएँ पत्तियों से रहित होती हैं लेकिन

वर्षा के आगमन, यहाँ तक कि उसकी पहली बूँद के बरसने के साथ ही शाखाओं में कोंपल फूटने लगते हैं। वनस्पति-शास्त्र में ढोक का नामकरण 'एनोगायसस पेंडुला' है, यह भी हमें मालूम हुआ।

वन-विभाग के वे कर्मचारी बड़े खुले दिल के व्यक्ति निकले। उन्होंने बताया कि ढोक के अतिरिक्त यहाँ पहाड़ी ढलान पर सालर का पेड़ बहुतायत में मिलता है। खैर, तेंदु, बहेड़ा, बाँस, बेर, कीकर, नीम, शीशम, बड़, पीपल, गूलर, जामुन, कदंब, अमलतास आदि के पेड़ भी सरिस्का में बहुतायत में हैं। अप्रैल के इस महीने में जगह-जगह अधिकतर पलाश के पेड़ दिखाई दे रहे थे। लाल-नारंगी फूलों की आभा सौंदर्य तो बिखेर ही रही थी, हमारे मन को ठंडक भी पहुँचा रही थी। यहाँ की घास के विषय में भी नवीन जानकारी हम लोगों को उपलब्ध हुई। सरिस्का में दूब, काँस, डाब, बड़ी जरगा, बरू, गुनेरा, सेवन, गाँठिया, अनजन जैसी कई तरह की घास पाई जाती हैं। हम सब आश्चर्यचकित होकर इस ज्ञान राशि से परिचित हो रहे थे और हमारी आँखों में उन कर्मचारियों के प्रति सम्मान का भाव झलक रहा था। पेड़-पौधों की इतनी बड़ी दुनिया हमारे आसपास बसती है और प्रायः हम इससे अनजान रहते हैं!

पेड़-पौधों से संबंधित इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने बताया कि सरिस्का की प्राकृतिक शोभा के बीच औषधियों का विपुल भंडार भी है। अनेक शारीरिक रोगों को समूल नष्ट कर देने वाली कई औषधियाँ यहाँ पाई जाती हैं। पुनर्नवा, गोखरू, शंखपुष्पी, ब्राह्मी, गुग्गुल, खदिर, बहेड़ा, आँवला जैसी कई आवश्यक औषधियाँ सरिस्का में बड़े पैमाने पर पाई जाती हैं। आयुर्वेद में इन औषधियों का बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। इन सभी जानकारीयों के बाद हमने वन्य जीवों की सुरक्षा के संबंध में प्रश्न किया। इस प्रश्न का उत्तर भी हमें धैर्यपूर्वक मिला। हमें पता चला कि वनपाल, वनरक्षक इस दायित्व को निभाते हैं। गश्ती दल भी इस कार्य के लिए सरिस्का के भीतर सक्रिय रहता है। इनके प्रमुख दायित्व हैं—जंगल और जंगली जीवों की सुरक्षा करना तथा जंगल की आग, शिकार और जंगली उपज की चोरी पर नियंत्रण रखना। सभी कर्मचारियों को दूरस्थ स्थानों से संपर्क स्थापित करने के लिए वायरलैस सेट की सुविधा मिली हुई है। उन्होंने हमें जंगल में स्थित कई चौकियाँ और पहाड़ी पर बने हुए कार्यालय भी दिखाए, जहाँ से वन की सुरक्षा का काम सुचारू रूप से चलाया जाता है।

अनेक जानकारीयों मिलने के बावजूद हमारे प्रश्नों और जिज्ञासाओं का सिलसिला अंतहीन ही बना रहा। एक बेहद ज़रूरी प्रश्न जंगली जानवरों



की प्यास से भी जुड़ा हुआ था। पक्की सड़क से जहाँ तक हमारी नज़र जा पा रही थी, हमें कुछ खड्ड या ताल जैसी जगहें तो दिख रही थीं लेकिन पानी का स्रोत नहीं। बाद में हमें बताया गया कि सरिस्का परियोजना क्षेत्र में कई ताल बनाए गए हैं, जिनमें बारिश का पानी इकट्ठा होता है जो पशु-पक्षियों के काम आता है। गरमी के मौसम में इनमें टैंकरों से भी पानी भरवाया जाता है। हमारी बातचीत चलती रहती, अगर उनका पड़ाव न आ गया होता। जंगल में यह साथ बेहद उपयोगी रहा। हमसे विदा लेते समय उन्होंने हम बच्चों से कहा, “देखो, डामर की रोड न छोड़ना।” हमें लगा डामर की रोड सरिस्का का महत्वपूर्ण हिस्सा है और उस मार्ग पर जाना हमारे लिए अनिवार्य है। मैंने जैसे ही उनसे पूछा कि यह डामर की रोड हमें कहाँ मिलेगी, तो उन्होंने एक जोरदार ठहाका लगाकर कहा, “पगली, डामर की रोड पर ही तुम चल रही हो। डामर की रोड यानी पक्की सड़क। मेरे कहने का मतलब था कि कहीं ज्यादा पाने के लालच में तुम कच्चे रास्ते पर न उतर जाना। वहाँ खतरा हो सकता है।” उनकी यह बात उनके चले जाने पर भी बहुत देर तक हास्य पैदा करती रही। बोली की अज्ञानता से उत्पन्न स्थिति कभी-कभी कैसी हास्यास्पद हो जाती है! फिर उसमें हम स्वयं अपना भी मज़ाक उड़ाने लगते हैं। मैंने यह भी पाया कि अनजान व्यक्ति से परिचय का सूत्र बँध जाना कोई बहुत कठिन काम नहीं है।

डामर की सड़क पर चलते हुए हमने जंगली मुर्गियाँ भी देखीं। सरिस्का में प्रवेश करते ही एक सूचना-पट पर केराकल नामक जंगली बिल्ली की जानकारी हमें मिली थी। यह बिल्ली केवल इसी जंगल में पाई जाती है। छोटे-से आकार की नोकदार कानों वाली, दुर्लभ प्रजाति की यह बिल्ली तो हमें दिखाई नहीं दी लेकिन तीतर काफ़ी संख्या में दिखे। काले शरीर पर, कहीं-कहीं भूरापन और सफ़ेद बिंदियों की छाप लिए हुए यह पक्षी अपनी अलग पहचान बनाता है। लंबी पूँछ वाले तोते भी हमसे छिपे न रह सके। रास्ते में जगह-जगह कुछ बाँबियाँ भी दिख रही थीं, छोटी-बड़ी, ढेर सारी। पहले-पहल उन्हें देखकर हमने अनुमान लगाया कि ये साँपों के निवास स्थान हैं, परंतु बाद में माँ ने हमें बताया कि ये दरअसल दीमकों के अड्डे हैं।

पिता जी ने इस जानकारी में एक नई बात और जोड़ दी। उन्होंने बताया कि दीमक को संस्कृत भाषा में वल्मीक कहा जाता है। ‘रामायण’ के रचयिता, आदि कवि जब एक बार जंगल में तपस्यारत थे, तो दीमकों ने उनके शरीर को ही अपना घर बना डाला था। इसी कारण वे वाल्मीकि

कहलाए। माँ-पिता जी के अनुभव-संसार से खुद को समृद्ध होते हुए देखकर मैंने सोचा था कि ज्ञान और अनुभव की विशदता का कैसा अद्भुत तालमेल है यहाँ! जो लोग उम्र से बढ़ जाते हैं और ज्ञान की दृष्टि से छोटे रह जाते हैं, वास्तव में वे अपने समय से कितना पीछे रह जाते हैं। फिर पिता जी का कहा एक वाक्य याद आया— ज्ञान के लिए तो एक जीवन भी कितना कम है! अब इसी यात्रा की बात करूँ, तो अब तक मैं कितनी बातों से अनभिज्ञ थी। माँ-पिता जी और हम भाई-बहन अपनी इस यात्रा के एक-एक पड़ाव पर अपनी ज्ञान-राशि को नया आयाम दे रहे थे। सच है ज्ञान पाने की कोई निश्चित समय-सीमा नहीं है।

पशु-पक्षियों के इतने बड़े घर के बीच से गुज़रते हुए हमारा परिचय कुछ नए सदस्यों से हुआ। इनमें चीतल और सांभर मुख्य हैं। एक बार इनका दिखना आरंभ हुआ तो जैसे पूरे रास्ते जगह-जगह ये स्वागत की मुद्रा में खड़े दिखाई दिए। परंतु स्वागत करते हुए भी अतिरिक्त रूप से सावधान और सचेत। कनखी मारकर देखते थे और आँखें मिलते ही, आवाज़ सुनते ही कुलाँचे भरते ये जा और वो जा! चीतल तो शायद हिरणों के परिवार का सबसे सुंदर सदस्य है। वह हमें कभी भी अकेला नहीं दिखाई दिया। सुरक्षा के घेरे में अपने दल के साथ ही घूमता-फिरता नज़र आया। हमारे उनकी ओर इशारा करने भर से ही जैसे झुंड के कान खड़े हो गए। दिखने में बहुत ही भोला-भाला यह वन्य जीव एक चौकन्ना प्राणी है, जो प्रकृति और अपने परिवेश की प्रत्येक हरकत के प्रति संवेदनशील है। खतरे का एहसास होते ही न सिर्फ़ यह चौकन्ना हो जाता है, बल्कि अपने दल को सावधान करने के लिए एक विशेष प्रकार की ध्वनि का प्रयोग भी करता है।

सांभर हिरणों के परिवार का सबसे बड़ा सदस्य है। चीतल और सांभर दोनों ही शुद्ध शाकाहारी हैं। इनके सींग, नील गाय की तरह स्थायी नहीं होते। सांभर भी हमें चीतल की भाँति झुंड में दिखाई दिए। लालिमा लिए हुए इनकी भूरी खाल, बड़े-बड़े सींग और चमकदार आँखें इनके सौंदर्य की साक्षी हैं। नील गाय, चीतल, सांभर, मोर, तीतर आदि तो अब तक दिखाई दिए थे लेकिन तेंदुआ, बाघ, जंगली सूअर आदि जानवर हमें पूरे रास्ते में कहीं नहीं दिखे। इसके दो मुख्य कारण हमें लग रहे थे। एक तो गरमी के कारण ये पशु जंगल के भीतरी भाग में चले गए होंगे और रात में बाहर आते होंगे। दूसरे, जैसा कि हमें बताया गया था कि शिकार की दुष्प्रवृत्ति के चलते यह जंगल बाघों से लगभग रिक्त हो चला है। तेंदुए भी इतने बड़े वन क्षेत्र में केवल पचास ही हैं। कितनी बड़ी विडंबना





हैं पशुओं के घर में घुसकर अपने आनंद और शौक की खातिर उनकी निर्मम हत्या कर देना!

अब हमने लगभग बीस किलोमीटर का रास्ता पार कर लिया था। कालीघाटी, भैरोंघाटी से गुज़रते हुए अब हम हनुमान मंदिर पहुँचने वाले थे। मंगलवार और शनिवार को यह मंदिर आम जनता के लिए खोला जाता है। मंदिर के सामने अच्छी-खासी भीड़ जमा थी। भीड़ का हिस्सा जहाँ स्त्री-पुरुष और बच्चे थे, वहाँ वानर सेना भी थी। नीचे कुछ मिठाइयों की दुकानें थीं। बंदर ग्राहकों से जबरन अपना हक वसूलते हुए दिखाई दे रहे थे। कुछ लोग उनकी इस गतिविधि पर मुसकरा रहे थे, कुछ भयभीत थे, तो कुछ चीख-चीखकर भाग रहे थे। हम लोगों ने जब मंदिर में प्रवेश किया, तो हनुमान जी की मूर्ति दिखाई दी। यह मूर्ति हमारे लिए विशिष्ट थी और अब तक देखी गई हनुमान की मूर्तियों से एकदम भिन्न थी। हनुमान की खड़ी मुद्रा की मूर्तियों से अलग यहाँ उनकी हाथ के सहारे अधलेटी मुद्रा की मूर्ति थी। वहाँ खड़े हुए कुछ और लोगों से पता चला कि कहा जाता है, वृद्धावस्था के दिनों में हनुमान यहीं आकर बस गए थे। 'महाभारत' का भीम-हनुमान प्रसंग भी यहाँ बराबर चर्चा का विषय बना रहा। 'महाभारत' में वर्णित है कि भीम जब एक बार जंगल से गुज़र रहे थे, तब अपनी शक्ति के अहंकार में चूर थे। रास्ते में एक वृद्ध बंदर की पूँछ को जब वे हटा नहीं सके, तो उनका घमंड चूर-चूर हो गया। यह कोई साधारण वानर नहीं था। ये थे हनुमान। कथा की वह शयन-मुद्रा, मंदिर की प्रतिमा से बिलकुल मिलती-जुलती थी।

नीचे उतरकर हम लोगों ने कुछ समय पुलिया पर गुज़ारा। मिठाई का भरपूर आनंद लिया। अपने साथ जो फल-नमकीन लाए थे उन पर भी हाथ साफ़ किया। यात्रा अभी समाप्त नहीं हुई थी। यहाँ से हमें आगे की ओर जाना था और फिर वापस लौटना भी था। इस दौरान ध्यान रखने लायक बात यह थी कि हमें सब काम सूर्यास्त से पहले ही निबटाने थे, क्योंकि जंगल में जगह-जगह पर साफ़ लिखा हुआ था कि यात्रा में सूर्यास्त न होने दें। थोड़ी देर का भरपूर विश्राम लेकर हम फिर आगे बढ़े।

बुलंद हौसलों का शफ़र

सरिस्का का हमारा आखिरी पड़ाव था— पांडुपोल। गाड़ी कुछ ही दूर चली थी कि सूचना-पट के निर्देश को पढ़ने के बाद हमें उसे रोकना पड़ा। दरअसल आगे जाने का रास्ता वाहन की दृष्टि से ठीक नहीं था और वहाँ तक की दूरी पैदल चलकर ही तय करनी थी। इस सूचना-पट में जंगल के खतरों से सावधान रहने और पैदल-मार्ग पर स्वयं अपनी ज़िम्मेदारी पर आगे बढ़ने का स्पष्ट निर्देश था। एक अन्य सूचना-पट पर वहाँ घटी दुर्घटनाओं का भी जिक्र था। यह पैदल मार्ग लगभग डेढ़-दो किलोमीटर का था। अब कलेजा थामकर हम मंज़िल की ओर बढ़े। हाथ में कैमरा, पानी की बोतलें थीं, पैरों में शक्ति और मन में बुलंद हौसला। जंगल में दूर तक फैले वीराने में मौजूद सभी खतरों को सोच-समझकर हम कच्चे ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर उतर गए। मौसम ने भी अचानक करवट ले ली। तेज़ धूप बादलों की घनी धुंधली चादर में बदल गई, हवा ठंडी हो गई और किसी भी समय बारिश होने की संभावना बनने लगी।

एक-दूसरे को ढाँढस बँधाते, हमारे कदमों ने रफ़्तार पकड़ ली। रोमांच तो इस दिन की शुरुआत से ही हमसे जुड़ा हुआ था, परंतु ये क्षण जितने रोमांचकारी थे, वह अकथनीय है! रास्ते के दोनों ओर ढलान, घने पेड़, बाँसों के झुरमुट थे। निर्जन में अचानक गूँज भर देतीं पशु-पक्षियों की आवाज़ें थीं। पेड़ों के पार बड़ी-बड़ी चट्टानों से टकराती हुई हवा की साँय-साँय और सुनसान रास्ता। कभी यहाँ पक्की सड़क अवश्य रही होगी, परंतु अब तो छोटे-बड़े आकार के पत्थरों पर हम डगमगाते हुए आगे बढ़ते जा रहे थे। इतना भी ठीक था लेकिन एक जगह पहुँचकर तो हमारी हिम्मत जवाब देने लगी। इस रास्ते में आगे बढ़ने के लिए टूटा-फूटा रास्ता भी नहीं बचा था। एक बड़ा-सा खड्ड था, जिसे पार कर के दोबारा ऊपर रास्ते पर आना था। माँ ने तो लगभग हथियार डाल दिए और



साफ़-साफ़ कहा, “मैं यहाँ रुकती हूँ, तुम लोग जाओ और पांडुपोल देख आओ।” मैं दुविधा में थी लेकिन छाया और पिता जी ने साहस बढ़ाया और यह क्या, प्रतीक तो बिना किसी संवाद में शामिल हुए बेधड़क उस खड्ड में उतर गया। उसके साहस पर मंत्रमुग्ध हम लोग भी जूते-चप्पल हाथ में लेकर आहिस्ता से खड्ड में उतरे और एक-दूसरे के सहायक बनकर फिर से ऊपर रास्ते पर आ खड़े हुए।



पांडुपोल का दुर्गम रास्ता

अभी कुछ दूरी और तय करनी थी। हमने देखा कि आगे कुछ लोग खड़े हुए हैं। वीराने में मुश्किलों पर काबू पाते जिस मनःस्थिति में हम थे, उसमें उन लोगों को देखकर कई भाव मन में घुमड़ पड़े। नकारात्मक भावों को एक किनारे कर अपनेपन और गर्मजोशी के भाव से हम तेज़-तेज़ कदमों से उन लोगों तक पहुँच गए। ये भी हमारी ही तरह सैलानी थे। जैसाकि आमतौर पर किसी दर्शनीय स्थल के आसपास भीड़-भाड़ दिखने लगती है, कुछ रौनकदार दुकानें और सरकारी कार्यालय दिखने लगते हैं, यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं था। ऊँचे-ऊँचे पहाड़, खड्ड और पहाड़ पर ऊपर जाने का रास्ता। हम उत्साह से ऊपर की ओर चले। थोड़ी देर तक तो लोहे की रेलिंग का सहारा था, फिर उस घुमावदार रास्ते पर टूटी-फूटी संकरी सीढ़ियाँ चढ़े। लेकिन यह क्या! अब न ही सीढ़ियाँ थीं और न रेलिंग का सहारा। हमने हैरानी से एक-दूसरे को देखा। एक ही सवाल आँखों में था कि अब आगे कहाँ जाएँ, कहाँ है पांडुपोल?

तभी हमसे पहले आए सैलानियों ने हमें बताया कि यहाँ से ठीक ऊपर की ओर देखो। लगभग तीस फीट ऊँचा एक पहाड़ हमें दिखा, जो

बीचों-बीच से कटा हुआ था और एक बड़ी द्वारनुमा शक्ल में हमारे सिर के एकदम ऊपर था। तीन तरफ़ ऊँचे पहाड़ों से घिरे हम लोगों का अस्तित्व यहाँ नगण्य-सा था। भय के मारे हमारी घिग्घी बँध रही थी। यही जगह पांडुपोल कहलाती है। 'महाभारत' की कथा के अनुसार पांडव अज्ञातवास के दौरान यहाँ आए थे। ठीक इस स्थान पर कौरव सेना ने उन्हें घेर लिया था। आगे जाने के सभी रास्ते बंद पाकर महाबली भीम ने अपनी गदा से वार करके इस पहाड़ में यह द्वार बनाया था और सभी के बचाव



पांडुपोल

का रास्ता खोजा था। यही कारण है कि पांडवों की कथा और पहाड़ को पोला या खोखला किए जाने की कथा को जोड़कर इस जगह का नामकरण पांडुपोल हुआ।

हम जहाँ खड़े थे, वह जगह ज़मीन से बहुत ऊँची थी। बेहद ऊँचे, भयावह पहाड़ की गिरफ्त में खड़े होकर उसे निहारने में जहाँ हमारी जान निकल रही थी, वहीं नीचे देखते ही हमें चक्कर आ रहे थे। सीढ़ियाँ जहाँ खत्म हो रही थीं, वहाँ टूटी हुई सीढ़ियों के अवशेष बता रहे थे कि किसी समय में ये सीढ़ियाँ पर्यटकों को और ऊपर ले जाती होंगी। लोगों ने बताया कि बारिश के दिनों में पहाड़ के बड़े से द्वारनुमा कटाव से झरना भी गिरता है।

पांडुपोल की इस यात्रा के बाद अब हमें वापस लौटना था। वापसी का पैदल रास्ता इस बार भी खतरनाक लगा, परंतु पहले की अपेक्षा कम। हमने आसपास का जायज़ा लिया। यहाँ पानी के कई कृत्रिम खड्ड हमें दिखे। जानवर यहाँ आकर अवश्य प्यास बुझाते होंगे। पांडुपोल के इस निर्जन, बीहड़, कठिन रास्ते को हमने सलाम किया और मन-ही-मन धन्यवाद दिया कि बिना किसी दुर्घटना का शिकार हुए हम सही सलामत आ गए।



— जंगल में मोर नाचा हमने देखा —

वापसी में कुछ देर बाद ही मूसलाधार बारिश शुरू हो गई। हमने बारिश के रुकने की प्रतीक्षा की। हमारे लिए यह भी एक सुखद अनुभव रहा। इस मौसम ने सभी को नयी ऊर्जा और जीवंतता से भर दिया। सारा जंगल बारिश की बूँदों में नहाकर, धुलकर खिल गया। धुले हुए पेड़-पौधों की इस नयी आभा में सारे जंगल का रूप परिवर्तित हो गया। आते समय जो सरिस्का सूखा और पतझड़ से प्रभावित दिखलाई दिया था, वह हरा-भरा जंगल लगने लगा। बारिश कुछ धीमी होते देख हम लोग आगे बढ़े। इंद्रियाँ एक बार फिर सक्रिय हुईं। जंगल में बारिश के कारण मिट्टी की सौँधी-सौँधी गंध सारे वातावरण में फैली हुई थी। यह गंध आनंद की मात्रा को लगातार बढ़ा रही थी।

लौटते समय रास्ते का नजारा आते समय की तुलना से अलग और बेहद सुंदर था। एक कहावत कई बार सुनी थी- 'जंगल में मोर नाचा किसने देखा', लेकिन हम सभी कह सकते हैं- 'हमने देखा, हमने देखा, हमने देखा'। बारिश का आनंद केवल हम लोग ही नहीं उठा रहे थे। जंगल के झुरमुटों में दुबके मोर अपने सारे भय को पीछे छोड़कर पक्की सड़क और उसके आसपास के पेड़ों पर लद गए थे। लौटते समय कम-से-कम तीन सौ के करीब मोर-मोरनियों को देखा। पेड़ों की डालों पर अपने विशाल पंखों की चादर ताने बैठे मोर दिखाई दिए। बारिश की बूँदों में उत्साहित होकर पिहू-पिहू की ध्वनि का संगीत भी इन मोरों ने जंगल में फैला दिया था। हमने पंख फैलाकर नाचते हुए मोरों को देखा। और तो और पक्की सड़क पर हमें न जाने कितनी ही बार गाड़ी रोककर प्रतीक्षा करनी पड़ी कि मोर महाराज अपने दल को लेकर कच्ची सड़क पर उतर जाएँ और हमें आगे बढ़ने का रास्ता दे दें। सचमुच अद्भुत दृश्य था वह, जहाँ मोरों का साम्राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था।

बारिश रुकने का नाम नहीं ले रही थी। आसमान स्याह होता चला जा रहा था। जहाँ पशु-पक्षी निर्भय होकर जंगल में विचरते हुए दिखलाई पड़ रहे थे, वहाँ हमें थोड़ा डर भी सताने लगा था। ऐसे में मीलों दूर तक फैले हुए इस निर्जन में बिजली चमकती थी, तो उसकी गड़गड़ाहट बहुत देर तक मन में कंपन पैदा करती थी। बिजली की गर्जना तो कई बार सुनी थी, लेकिन जंगल में यह गर्जना एक अलग प्रभाव पैदा करती है। वह

बहुत साफ़ सुनाई देती है और बहुत देर तक उसकी प्रतिध्वनि भी जंगल में गूँजती रहती है। यहाँ रूप, गंध, ध्वनि, स्पर्श के बिंबों का अनूठा संसार हमारे आगे खुला हुआ था और हम स्वच्छंद भाव से अपनी अभिरुचि के अनुसार उसे ग्रहण कर रहे थे। माँ ने इस अवसर को उपयुक्त पाकर कविवर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'बादल राग' और नागार्जुन की 'बादल को घिरते देखा है' कविताओं का सस्वर वाचन किया।

अपनी इस यात्रा के साक्षी असंख्य मोरों, सांभरों व चीतलों के झुंडों और पेड़-पौधों को हम विदा कहकर लौट रहे थे। आज का दिन सचमुच हमारे जीवन का ऐतिहासिक दिन था। जीवन की कई यात्राओं के अनुभवों से कहीं ऊपर था आज की यात्रा का अनुभव। सरिस्का की अमिट छाप केवल एक जंगल के ही रूप में हमारे हृदय पर नहीं पड़ी, बल्कि प्रकृति की नैसर्गिक शोभा और उसके अनमोल भंडार की दृष्टि से भी सरिस्का हमारे लिए अविस्मरणीय रहेगा। पर्यावरण संरक्षण और 'बाघ बचाओ अभियान' को देशभर के लिए चिंतन का विषय बनाने में इसकी पहलकदमी स्वागत योग्य है। यहाँ के पशु-पक्षी प्रकृति की अनुपम देन हैं। बहुत सी प्रजातियाँ धीरे-धीरे लुप्त होती चली जा रही हैं— यह चिंता कुछ ही लोगों की नहीं, बल्कि सभी की है। बाघ के लिए लोकप्रिय सरिस्का के बाघ रहित होने की चिंता यूँ भी मामूली नहीं है।

सरिस्का से बाहर निकलते हुए मेरे मन ने यही कहा, “जीवन की विविधता और उसके जीवित होने की निशानी शायद ये जंगल ही हैं!”

— अलवर के अन्य दर्शनीय स्थल —

अलवर के अन्य आकर्षणों में भर्तृहरि का मंदिर भी विशिष्ट है। यह मंदिर सरिस्का से तीन किलोमीटर पहले पड़ता है। अपने 'नीतिशतक' के कारण विख्यात उज्जैन के महाराज भर्तृहरि ने वैराग्य लेकर जिस स्थान पर अपना शेष जीवन साधनारत होकर बिताया, वही स्थान आज भर्तृहरि के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक वर्ष भाद्र और वैशाख महीने में यहाँ मेला लगता है, जिसमें दूर-दराज के क्षेत्रों से बड़ी संख्या में लोग आते हैं। भर्तृहरि मंदिर में प्रवेश करने पर हमने देखा कि वहाँ उनकी एक मूर्ति स्थापित है। भर्तृहरि अलवर के लोक-देवता के रूप में पूजे जाते हैं। उनकी मूर्ति के ठीक पीछे एक कुंड से लगातार पानी बहता रहता है।

सरिस्का से बत्तीस किलोमीटर की दूरी पर 'नीलकंठ' नामक एक जगह है। वास्तव में यहाँ एक शिव मंदिर है, परंतु इसका महत्त्व मूर्ति





शिल्प की दृष्टि से अधिक है। अनेक किंवदंतियों के कारण बहुचर्चित अजबगढ़-भानगढ़ भी अलवर के प्रमुख स्थलों में गिने जाते हैं। यहाँ के खंडहरों के विषय में एक किंवदंती प्रचलित है, जिसके अनुसार बसी-बसाई यह जगह एक ही रात में खंडहर में बदल गई थी।

इनके अतिरिक्त विशाल गुंबद और फव्वारों के कारण चर्चित शिमला, ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण काँकवाड़ी और बाला किला, प्राकृतिक शोभा की दृष्टि से नलदेश्वर, तालवृक्ष, नारायण जी तथा स्थापत्य की अनूठी मिसाल फतहगंज गुंबद आदि अलवर घूमने आए सैलानियों का मन मोह लेते हैं। इनके अतिरिक्त मैं एक और जगह का नाम भी दर्शनीय स्थलों की सूची में जोड़ना चाहूँगी। हम लोग अलवर में मोतीडूंगरी पर स्थित एक होटल में ठहरे हुए थे। इस होटल के रास्ते की पहचान बच्चों का एक छोटा-सा पार्क था। हम लोग लगभग हर रात उस पार्क में गए। वहाँ कई तरह के झूले, खाने-पीने का सामान, और टहलने की साफ़-सुंदर जगह थी। आज यह जगह भले ही अलवर के प्रमुख स्थलों में नहीं गिनी जाती है, परंतु आने वाले कुछ वर्षों में इसकी गणना शहर के आकर्षण के केंद्रों में निश्चित तौर पर होगी। दरअसल इस पार्क का विस्तार किया जा रहा है। इसकी पृष्ठभूमि में मोतीडूंगरी का किला दिखता है और वहाँ की ऊँचाई से नीचे तक भविष्य में एक झरना गिरेगा। अभी इसकी तैयारी चल रही है। हम रात के अंधकार में भी ऊपर तक चढ़कर गए, जहाँ से झरना नीचे बहेगा। कुछ वर्षों बाद किले की पृष्ठभूमि में रात में गिरता हुआ झरना और पार्क का विस्तार वाकई देखने लायक होगा।

पानी की कहानी

तीन दिन तक अलवर के महत्वपूर्ण स्थलों में घूमते रहने के बाद पिता जी ने अगले दिन को 'आराम दिवस' घोषित कर दिया। उनके अनुसार उस दिन हम सभी को पूरा दिन थकान उतारनी थी और शाम को उनके मित्र के घर चलना था। अगली सुबह जल्दी उठने की कोई हड़बड़ी नहीं थी। हम लोग रात को लंबी तानकर सो गए। सुबह कुछ शोर-शराबे के कारण नींद खुली। माँ आदत से मजबूर देर तक नहीं सोती हैं, इसलिए सुबह अपने समय पर ही उठ गईं। नींद में होने पर भी मुझे उनकी पदचाप और चिंता से भरी आवाजें सुनाई पड़ रही थीं। वे नीचे, होटल के प्रबंध कक्ष में कर्मचारियों से कुछ बातचीत कर रही थीं। इस सबको टालना चाहने

पर भी नींद उचट ही गई। दरअसल माँ नहाना चाहती थीं और पानी आ नहीं रहा था। पानी की समस्या से माँ अकेले ही जूझ रही थीं।

होटल के कर्मचारियों ने बताया कि आज पानी का दबाव बेहद कम है। अतः ऊपर की मंज़िल पर पानी नहीं चढ़ पा रहा था। खैर जैसे-तैसे कुछ बालटी पानी ऊपर भिजवाया गया। यह दशा देखकर मुझे रहीम की पंक्ति याद आयी- ‘बिन पानी सब सून’। इस परेशानी में भी छाया को मज़ाक सूझ रहा था। उसने कहा, “राजस्थान है तो पानी की दिक्कत तो होगी ही।” मुझे याद आया कि वह अकसर प्राथमिक कक्षा के अपने एक सहपाठी का जिक्र किया करती थी, जो राजस्थान की तीन पहचानें बताया करता था- “जहाँ रेत हो, पानी न हो और खजूर के बहुत सारे पेड़ हों।” उसके इस उत्तर से उसे अकसर शिक्षिका से डाँट पड़ा करती थी। तो यह दिन पानी की समस्या से शुरू हुआ। मुझे लगा कि आज आराम का दिन है। तीन दिन हो गए थे अखबार की सूरत देखे। यहाँ ‘राजस्थान पत्रिका’ मिला, जिसमें ‘अलवर पत्रिका’ के पृष्ठ भी थे।

आज न जाने क्या बात थी कि सुबह से पानी प्रकरण जारी था। एक तो सुबह का किस्सा और दूसरे ‘अलवर पत्रिका’ की मुख्य खबर- ‘किशनकुंड में कम नहीं दमखम’। खबर पढ़कर मैंने जाना कि किशनकुंड सिटी पैलेस से कुछ दूरी पर है और यह परंपरागत जल-स्रोतों में से एक है। यहाँ इस ऐतिहासिक कुंड की सफ़ाई का अभियान शुरू किया गया है। अरावली पर्वत शृंखला की दो पहाड़ियों के बीच बने किशनकुंड की गहराई लगभग तीस फ़ीट है। इसमें करीब पच्चीस फ़ीट तक मिट्टी जमा है, जिसे निकालकर पानी की बैक प्रैशर तकनीक से किशनकुंड को जीवित किया जा सकता है।

अखबार में दी गई सूचना के आधार पर इस कुंड में अट्टारह सौ घनमीटर पानी संरक्षित हो सकता है। सचमुच इस पानी से शहर की पानी संबंधी समस्या सुलझ सकती है। खबर में साफ़ लिखा था कि पहाड़ियों के भीतरी हिस्से में जगह-जगह पर कई जोड़ हैं, जिनसे आने वाली जलधारा, पानी का मुख्य स्रोत है। यह जलधारा काफ़ी दूरी से चलकर कुंड तक पहुँचती है। उसके बाद नहर के माध्यम से पानी सागर जलाशय तक आता है। हमने ‘मूसी महारानी की छतरी’ से सटा हुआ सागर जलाशय देखा ही था। किशनकुंड की यह खबर मैंने पिता जी को सुनाई। अलवर में पानी की समस्या की चर्चा छिड़ते ही वे बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराए। इतनी गंभीर बात पर उनका मुसकराना मुझे आश्चर्यजनक



This is a vertical strip of a larger illustration, rendered in a monochromatic red or terracotta hue. It depicts a desert scene. At the top, a camel with a rider is shown. Below it is a small, domed building. Further down, a cart is visible. The lower portion of the strip shows several figures walking along a path, including one carrying a large bundle on their head and another holding an umbrella. The background features rolling hills and a small, more complex building with multiple domes.

चाचा जी भी पिता जी की इस शैली से परिचित थे। हँसते हुए बोले, “अच्छा! पानी की कहानी सुनवाने लाए हो बच्चों को। ठीक है। तो बच्चो यह कहानी ज़रा लंबी है और इसकी एक शर्त भी है कि कहानी में हुँकारा लगाना ज़रूरी है।” हम खुशी-खुशी तैयार हो गए। चाचा जी ने अब कहानी शुरू की- “बच्चो जैसा कि तुमने बताया कि तुम भर्तृहरि मंदिर होकर आए हो, तो सबसे पहले राजस्थान विशेषकर अलवर और आसपास के क्षेत्र में प्रसिद्ध एक लोककथा सुनो। यह लोककथा भर्तृहरि से ही संबंधित है। राज-पाट त्यागकर जब भर्तृहरि उज्जैन से राजस्थान की ओर आए, तब एक कुम्हार के यहाँ उन्होंने कुछ दिन बिताए। कुम्हार जो भी कमाकर लाता, उसके तीन हिस्से होते। तब भर्तृहरि महाराज, कुम्हार और उसकी पत्नी अपनी भूख मिटाते। कुछ दिनों तक यह सिलसिला चलता रहा। थोड़े दिन बाद कुम्हार की पत्नी को लगा कि ये महाराज तो कोई काम-धाम करते नहीं हैं और कमाई का एक हिस्सा भी इन्हें जाता है। सोने पर सुहागा यह कि मुझे इनके लिए खाना भी पकाना पड़ता है।

शाम को कुम्हार के आते ही पत्नी ने इस बात का विरोध किया और दोनों में झगड़ा होने लगा।”

छाया ने शर्त के अनुसार हुँकारा भरा और मेरे मुँह से निकला, “फिर?

चाचा जी ने बात आगे बढ़ाई, “इस झगड़े को सुलझाने के लिए भर्तृहरि महाराज ने कुम्हार की पत्नी से आटे की लोई मँगवाई। इस लोई को उन्होंने दो भागों में बाँटा-आधा हिस्सा कुम्हार की पत्नी का और आधा कुम्हार का। कुम्हार के हिस्से में सोना आया और पत्नी के हिस्से में रेत। इस लोककथा का एक अर्थ तो यह था कि जिसके मन में निःस्वार्थ भावना है, वह सोने का अधिकारी है और जिसमें लालच है वह रेत का। लेकिन इस लोककथा के साथ ही यह बात भी जुड़ गई कि राजस्थान का आधा क्षेत्र रेत यानी बंजर, अनुपजाऊ रहेगा और आधा सोना यानी उपजाऊ और समृद्ध रहेगा।”

चाचा जी ने अपनी कहानी का विस्तार रेतवाले आधे हिस्से से ही किया। उन्होंने बताया कि यह बंजर, सूखा इलाका हमेशा से ऐसा नहीं था। कभी यहाँ काफ़ी हरियाली थी। यहाँ तक कि लोगों का कहना है कि यहाँ पहले अनाज की मंडियाँ हुआ करती थीं। लेकिन अब नहीं हैं। अब तो अरावली पर्वत शृंखला भी वह नहीं रही, जो पहले थी। किसी समय यह अरावली दस हजार फुट ऊँचा था। तब हिमालय घुटनों के बल चलने वाला बच्चा था। बाद में हिमालय को आकार देने के क्रम में अरावली का अस्तित्व मिटने लगा। थार क्षेत्र का हरा-भरा उपजाऊ इलाका रेगिस्तान में बदल गया। प्रकृति के साथ-साथ मानव ने भी अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति के चलते बड़ी मात्रा में वृक्षों की कटाई करके अरावली के जंगलों को खत्म किया। ये सब कार्य पर्यावरण के संतुलन को खतरा पहुँचाने वाले सिद्ध हुए। यह चक्र चलता रहा और राजस्थान के कई क्षेत्र ‘डार्क ज़ोन’ यानी भूमिगत जल-संपदा की दृष्टि से अत्यधिक अभाव वाला हिस्सा बन गए। अरावली उजड़ने लगा।

अलवर के कई हिस्से भी इस अंधकार का ग्रास बने। पर्यावरण और पारिस्थितिकी संतुलन के बिगड़ने पर जीवन के आधार पानी की समस्या विकट होती चली गई। पहले वर्षा की अधिकता और पहाड़ पर पेड़ों की सघनता के कारण पानी की कमी नहीं होती थी। अब जंगल कटने पर पानी ऊपर रुकता नहीं है और नीचे बह जाता है। कुँओं का जल-स्तर गिर गया है, जिसके कारण पीने के पानी की कमी हो गई है।



बिना पानी शब शुन

चाचा जी की कहानी धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। इससे हमने जाना कि अलवर के अनेक गाँव पानी की समस्या से त्रस्त थे। खेती-बाड़ी तो दूर की बात है, घरेलू कामों के लिए भी पानी का अभाव था। औरतें दिन-रात पानी की समस्या से जूझती रहती थीं। कई-कई किलोमीटर का फासला तय करके घर के लिए भारी वजन ढोकर वे मटके में पानी लाती थीं। इतना ही नहीं वे पशुओं को भी साथ ले जातीं और कुँए से बाल्टियों में पानी भर-भरकर निकालती तथा उन्हें पिलाती थीं। यह काम भी बेहद कठिन होता था क्योंकि अधिकांश कुँए उनके घर से दूर थे और जल स्तर की दृष्टि से भी ठीक नहीं थे। इसलिए लंबी पैदल दूरी तथा कुँए की अधिक गहराई से पानी को खींचना भी कम कष्टदायक नहीं था। गर्मी के दिन तो अत्यधिक कष्टों से भरे होते। जानवर ही नहीं इंसान भी मौत का शिकार होते। पानी बदबूदार तथा गंदा मिलता। सिंचाई का कोई और साधन न होने से खेती भी प्रभावित होती। कई गाँवों में अकाल की स्थिति आ गई। किसान, मजदूर बनने को विवश हुए।

प्राकृतिक आपदाओं से तो अलवर प्रभावित था ही, एक समस्या यह भी थी कि जल-संरक्षण के परंपरागत साधनों की ओर लोगों ने ध्यान देना ही बंद कर दिया था। वे साधन जो किसी समय बड़ी मात्रा में जल



पानी की तलाश में मवेशी

आपूर्ति के लिए सक्षम और समर्थ थे, उन्हीं साधनों के प्रति बाद में लोग उदासीन से हो गए थे। इन सभी कारणों के दुष्परिणाम भी सामने आ रहे थे। भूमिगत जल की समस्या गंभीर रूप धारण कर गई। वे लोग जो पीढ़ी दर पीढ़ी कृषि को समर्पित थे, उन्होंने अपना पैतृक व्यवसाय नहीं अपनाया और अधिकतर गाँव छोड़कर भी निकल गए। उनके परिवार विकट स्थिति झेलने के लिए पीछे रह गए। पशुपालन का क्षेत्र भी गहरे तौर पर प्रभावित हुआ। पशु पानी और चारे को तरस गए। कुँए सूख चले और हर तरफ़ 'बिन पानी सब सून' था।

— जब मृतप्राय जीवन ने करवट ली —

चाचा जी की कहानी दुखद थी। पानी की समस्या को इस तरह हम लोगों ने न तो कभी सुना था और न ही महसूस किया था। यह कहानी हमें एक नए अनुभव से जोड़ रही थी। दुखों और कष्टों का बयान सुनकर हम हुँकारा लगाना भी भूल रहे थे। चाचा जी ने हमारे चेहरों की उदासी छँटने के लिए हमसे एक प्रश्न किया, “क्या तुम लोगों ने श्री राजेंद्र सिंह का नाम सुना है?” आदत से लाचार हमने कहा, “कुछ आगा-पीछा बताइए।” चाचा जी ने बताया, “वही जिन्हें वर्ष 2002 के रेमन मैग्सेसे पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।” मैं और छाया तपाक से बोले, “हाँ, हम जानते हैं।” चाचा जी भी हमारी परीक्षा लेने को तैयार बैठे थे, बोले, “क्या जानते हो?” हमारे उत्साह की डिग्री कुछ कम हो गई। इस पर चाचा जी बोले, “शाबाश, तुम तो उन्हें जानते हो परंतु थोड़ा और जानना भी जरूरी है।”

1985 से पहले अलवर डार्क जोन का हिस्सा था। वर्ष 1984-85 में राजेंद्र सिंह और उनके कुछ साथियों ने यह संकल्प लिया कि अलवर में शिक्षा और चिकित्सा की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य करने हैं। यही सोचकर वे आगे बढ़े, लेकिन जल्दी ही उन्हें अनुभव हुआ कि शिक्षा और चिकित्सा तो अभी दूर की बात है, यहाँ लोगों की प्रमुख समस्या पानी है। अपने भ्रम के टूटते ही वे इस काम में जुट गए। उन्होंने अपने स्वयंसेवी संगठन 'तरुण भारत संघ' के ज़रिए ग्रामवासियों को एकजुट किया। ग्रामवासियों ने कड़ा परिश्रम किया। मृतप्राय जीवन ने करवट ली और उसकी रगों में नए रक्त का संचार हुआ। सूनापन धीरे-धीरे मिटने लगा। सूखी डालियों पर नयी कोंपलें चमकने लगीं। कुँओं की जगत पर नया शोर सुनाई देने



This is a vertical strip of a larger illustration, rendered in a monochromatic red or terracotta hue. It depicts a rural scene. At the top, a camel is being ridden across a hillside. Below it is a simple, rectangular house. Further down, a well with a pulley system is visible, with a person standing nearby. In the foreground, several figures are walking along a path; one person carries a large bundle on their head, and another carries an umbrella. The background shows rolling hills. The style is that of a traditional Indian folk painting.

This is a vertical strip of a larger illustration, rendered in a monochromatic red or terracotta hue. It depicts a rural scene. At the top, a camel is being ridden across a hillside. Below it is a simple, rectangular house. Further down, a well with a pulley system is visible, with a person standing nearby. In the foreground, several figures are walking along a path; one person carries a large bundle on their head, and another carries an umbrella. The background shows rolling hills and a small cart or structure on the left.

This is a vertical strip of a larger illustration, rendered in a monochromatic red or terracotta hue. It depicts a rural scene. At the top, a camel is being ridden across a hillside. Below it is a simple, rectangular house. Further down, a well with a pulley system is visible, with a person standing nearby. In the lower section, a group of people are walking along a path; one person is carrying a large bundle on their head, and another is holding an umbrella. The background shows rolling hills and a small cart or carriage. The style is that of a traditional Indian folk painting or a stylized illustration.

This is a vertical strip of a larger illustration, rendered in a monochromatic red or terracotta hue. It depicts a rural scene. At the top, a camel is being ridden across a hillside. Below it is a simple, rectangular house. Further down, a well with a pulley system is visible, with a person standing nearby. In the lower section, a group of people are walking along a path; one person is carrying a large bundle on their head, and another is holding an umbrella. The background shows rolling hills and a small cart or carriage. The style is that of a traditional Indian folk painting or a stylized illustration.

चाचा जी ने बताया कि जोहड़ निर्माण राजस्थान में जल-संरक्षण का पुराना तरीका था। पुराने जोहड़ों को भी जीवित किया गया। उनमें इतनी मिट्टी धँस गई थी कि गहराई बिलकुल नहीं थी। वे समतल मैदान ही बन चुके थे। ऐसे में पुराने जोहड़ों को सँवारने और नयों के निर्माण का काम शुरू हुआ। किसी-किसी गाँव में तो चार-पाँच जोहड़ बना लिए गए। ग्रामवासियों, विशेषकर महिलाओं ने तन-मन-धन लगाकर कार्य आरंभ किया। इन ताल-तलैयाँ में वर्षा का जल संरक्षित किया गया। इसके कई लाभ हुए। पहला तो यही कि सूखे कुँएँ जीवित हो गए। घरेलू कामों एवं सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध हो गया। कई कष्टों पर विजय प्राप्त हुई। जो लोग पानी की कमी से गाँव छोड़ गए थे, वे घरों की ओर लौटे।

गोपालपुरा एक बार फिर खुशियों के गीत गाने लगा। इन प्रयासों से एक मुख्य बात सामने आई कि 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता'। साझे-संयुक्त प्रयासों ने गाँव की बदहाल तस्वीर को खुशहाल रंगों से सजा दिया। दूसरी ज़रूरी बात लोगों ने यह भी जानी कि अपनी ज़मीन की समस्या से मुँह चुराकर कहीं और भाग जाना तो आसान है, परंतु वहीं रहकर, कारण खोजकर समाधान निकालना एक चुनौती है। ऐसी चुनौती जो कठिन तो है, परंतु सुखकारी भी। अपनी जड़ों से कटकर पेड़ और प्राणी कोई सुखी नहीं रह सकता। इस तरह डार्क ज़ोन के अंधेरे को चीर ही डाला उजली किरणों ने!

चाचा जी बढ़िया कथावाचक निकले। कहानी अभी खत्म नहीं हुई थी। चाचा जी ने कथा आगे बढ़ाई और बताया, "यह काम गोपालपुरा से शुरू अवश्य हुआ, परंतु वहीं तक रुका नहीं। निरंतर आगे बढ़ा, बढ़ता गया और आज भी जारी है। न जाने कितने ही गाँव गोपालपुरा के बदले हुए रूप से प्रेरित-प्रभावित होकर उजली किरणें बटोरने लगे। गाँवों में कृषि-उत्पाद में वृद्धि हुई, साथ ही खेती योग्य भूमि का विस्तार हुआ। पानी की उपलब्धि के कारण लोगों में आत्मविश्वास की ही वृद्धि नहीं हुई, बल्कि उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति भी बदलने लगी। अति आधुनिक युग में पुराना सारा ज्ञान व्यर्थ नहीं है, यह बात लोगों ने जानी। माण्डलवास, मथुरावट, राजोर, मैजोड़, बाछड़ी, सूरतगढ़, रायपुरा माल, किशोरी, भीकमपुरा, गोविंदपुरा, जैतपुर, क्यारा, अंगारी, देवरी, रामपुरा, ककराली, तिलवाड़ और ऐसे ही न जाने कितने गाँवों ने खुशहाली की नयी करवट ली।"





चाचा जी का उत्साह तनिक भी थमा न था। उन्होंने उसी उत्साह को बनाए रखकर हमें बताया कि गाँवों की स्थिति केवल जोहड़, ताल-तलैया के निर्माण से ही नहीं बदली। उनके स्वर में जोश था, “जल का एक बड़ा स्रोत, जीवनदायिनी नदियाँ भी इस दिशा में आगे रहीं। आज हमारे सामने पाँच ऐसी नदियाँ हैं, जो एक समय में अपना अस्तित्व खो बैठी थीं, लेकिन आज वे जल से भरपूर हैं। अरवरी, रूपारेल, भगाणी-तिलदेह, सरसा और जहाजवाली के नाम से जानी जाने वाली ये पाँच नदियाँ एकदम सूख चली थीं।” चाचा जी ने अपनी बात को विस्तार दिया, “जल-प्रबंधन की सुविचारित कार्यपद्धति ने जहाँ गाँवों में जोहड़-बावड़ियों के निर्माण को प्राथमिकता दी, वहीं वर्षा के जल का संचयन करके ज़मीन में पानी के गिरते हुए स्तर को बढ़ाया गया। इससे बदलाव आया। सूखी नदियाँ धीरे-धीरे नवजीवन पाती गईं और वर्षों बाद वे वर्षभर कलकल-छलछल के गीत पर नाचती दिखाई दीं। नदियों पर कटाव और बाँध की समुचित व्यवस्था ने पानी के अभाव को हर लिया।” चाचा जी ने नदियों के संदर्भ में कुछ और महत्वपूर्ण जानकारियाँ भी दीं।

नयी मिशाली श्रवरी-शंशद

“चाय गरम, दूध गरम, बिस्किट, नमकीन, कर्म-कुर्रम!” इस आवाज़ के साथ चाचा जी की बेटी कावरी दीदी कमरे में दाखिल हुई। हमारे लिए दूध, अपने और चाचा जी के लिए चाय लेकर आई दीदी बोलीं, “भई! हमसे भी तो कोई बात करो। हमारी किसी को कोई परवाह ही नहीं है!” हम सभी शर्मिदा हुए क्योंकि कहानी सुनने के चक्कर में हम बाकी सब कुछ भूल बैठे थे। कमरे में अचानक छाई कुछ समय की चुप्पी को तोड़ते हुए दीदी चाचा जी से बोलीं, “आपने इन्हें हमारी संसद के बारे में बताया क्या?”

इस पर हम चौंक उठे। छाया ने छूटते ही कहा, “संसद! वो तो हम सभी की है। उसके बारे में तो हम जानते हैं।” दीदी ने रहस्यमयी मुस्कान के साथ कहा, “अलवर आए हो तो यहाँ की संसद को भी जानो।” मैंने कहा, “दीदी, संसद तो दिल्ली में है आपकी ये कौन-सी संसद है?”

“ये है हमारी अपनी संसद, हमारी नदी-संसद। इस नदी-संसद से सत्तर से अधिक गाँव जुड़ गए हैं।” दीदी की इस जानकारी ने हमें आश्चर्य में डाल दिया। अपनी बात रखते हुए मैंने कहा, “जाओ दीदी हमें न बनाओ।

नदी-संसद! और गाँवों में संसद नहीं पंचायतें हुआ करती हैं। क्या आपने मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'पंच परमेश्वर' नहीं पढ़ी है?"

"जरूर पढ़ी है, लेकिन हमारे यहाँ ज़रा दूसरे ही नियम हैं।" दीदी की बात को आगे बढ़ाते हुए चाचा जी ने कहा, "देखो बच्चो, संसद के बारे में तुम ठीक कह रहे हो पर कावेरी भी सही है। देश में कानून बनाने की सर्वोच्च संस्था संसद है और ग्राम-पंचायतें भी कुछ नियमों के आधार पर गाँवों की समस्याओं का समाधान किया करती हैं। इसके अलावा गाँव-देहात के ऐसे बहुत से सरोकार जिनके लिए कोई एकजुट होकर काम करने की ज़रूरत थी। जैसे मैंने तुम्हें बताया भी कि अलवर में कैसे सूख चली नदियों को जीवित करने का काम किया गया। नदी को जीवित करना एक बड़ा काम था लेकिन उससे भी बड़ा और ज़रूरी काम यह था कि नदी फिर से न सूख जाए। साथ ही जोहड़, बाँध, वर्षा-जल संचयन का काम न रुके और गाँव कैसे आत्मनिर्भर बने इसी ज़िम्मेदारी से प्रेरित होकर अरवरी नदी-संसद बनाई गई। अलवर के बहुत-से गाँवों की भागीदारी इसमें है। अरवरी-संसद का सपना दिसंबर 1998 में अरवरी के किनारे हमीरपुर में देखा गया। यह सपना साकार हुआ सन् 1999 ईस्वी में गणतंत्र दिवस के मौके पर और इसी साल हमीरपुर वासियों ने अरवरी माता का मंदिर भी बनाया।"

"वाह चाचा जी, हमने तो कभी किसी नदी-संसद के बारे में न कुछ सुना न ऐसा प्रयोग कभी देखा।" छाया के उत्साह को बनाए रखते हुए दीदी ने बताया कि अपने आरंभिक दौर में यह कोई सफल प्रयोग नहीं था क्योंकि गाँव के लोग कई मुद्दों पर स्वयं निर्णय लेना भूल चुके थे। एक-दूसरे का सहारा बनकर सामूहिक समस्याओं का निपटारा कैसे हो सकता है – इस सामुदायिक भावना को उन्होंने भुला डाला था। ऐसे में खुद के लिए स्वयं निर्णय लेने की हिम्मत बाँधी थी 'तरुण भारत संघ' के साथियों ने। उन्होंने प्रकृति और समाज के सुधार के लिए गाँवों में ग्राम सभाएँ बनाई। उनमें हुई लगातार बातचीत ने लोगों को संगठित किया। तब नदी और पर्यावरण जैसे गंभीर विषयों के लिए नदी-संसद गठित हुई। संसद में तय हुआ कि नदी की खुशहाली गाँव की खुशहाली है इसलिए नदी को बचाने का ज़िम्मा संसद का होगा।

अरवरी संसद के विषय में हमें यह भी पता चला कि इस संसद ने ज़मीन के भीतर खाली हो रही विस्तृत टंकी को पानी से भरने, भू-संरक्षण और वन-विकास जैसे तरीकों से पर्यावरण के क्षेत्र में योगदान देने का





बीड़ा उठाया है। यही नहीं कुछ नियम भी बनाए हैं, जैसे जो व्यक्ति पानी का अधिक बचाव करेगा उसे पानी का उपभोग करने की भी अधिक छूट होगी। ग्राम सभाओं से चुनकर आए सांसद अन्य ग्राम सभाओं के सांसदों के साथ मिलकर समस्याओं के हल खोजेंगे।

यह सब सुनकर मुझे लगा कि अपने जीवन, अपने समाज, परिवेश और पर्यावरण के बारे में सामाजिक ढंग से सोचना, आत्मनिर्भर होकर फैसला लेना कितना हिम्मतवाला कदम है। मुझे याद आया गर्मियों में माँ फ्रिज के अलावा मटके में भी पानी भरकर रखती हैं। हम सभी उससे पानी पीते हैं लेकिन उसे बारी-बारी से भरते हैं। अगर मटका भरेंगे नहीं तो प्यास कैसे बुझेगी? यही बात प्रकृति पर भी लागू होती है। अगर उसकी टंकी खाली होगी तो नदियाँ, कुएँ कैसे भरे रहेंगे? ज़मीन कैसे उर्वर होगी? अभी मैं यह सोच ही रही थी कि दीदी अंदर के कमरे से कुछ लेकर आई और बोलीं, “खुल जा सिमसिम!”

“अरे ये तो कोई नक्शा है? क्या किसी खज़ाने का है?” छाया की आँखें आश्चर्य और उत्साह से भर गईं। हमारा भी यही हाल था। दीदी ने बताया कि यह नक्शा अरवरी नदी का है और नदी 45 किमी. लंबी है। सन् 1984 से अरवरी नदी को सजल करने की यात्रा अरवरी तट से लगे गाँवों से शुरू हुई थी। इससे सहयोग की नई शृंखला बढ़ी जिसमें सेवा का गुवाड़ा, भाँवता, काँकड का गुवाड़ा, आगर टोडा, भूरियावास, खरटाडा, डूमोली, हमीरपुर, सांवत्सर, नटाटा, जैतपुर गुजरान, चावा का बास आदि तथा अलवर, थाना गाज़ी क्षेत्र के कई गाँव और बाद में जयपुर क्षेत्र के कई गाँव भी आ मिले। सूख चली अरवरी को नदी बनाने में लगा भरपूर श्रम, अपार धैर्य, अथक हिम्मत और असीम उत्साह।

“दीदी अरवरी नदी में पहली दफ़ा पानी कब दिखा?” प्रतीक के पूछने पर दीदी ने बताया, “वैसे तो सन् 1990 में अरवरी सजल हुई पर उसने अपनी संपूर्ण शक्ति अर्जित की सन् 1995 में जब नदी पूरे साल बहती देखी गयी।”

“और अब लगातार बहती रहेगी।”

हमारी इस बात पर बिना एक क्षण भी गँवाए चाचा जी बोल उठे, “यही तो अरवरी-संसद ने समझाया है कि यदि नदी भर गई है तो यह नहीं सोचना चाहिए कि वो हमेशा भरी रहेगी। इसके लिए अरवरी-संसद ने कुछ संकल्प लिए हैं – जैसे नदी, कुओं से सिंचाई नियमबद्ध तरीके से की जाए, पानी का इस्तेमाल संयम से हो, पानी को बेचने पर रोक लगे, जल पुनर्भरण के तरीकों को बढ़ाने के उपाय किए जाएँ, नदी के

आस-पास हरियाली भूमि बनाई जाए, होली के बाद ज़्यादा पानी पीने वाली फसलों को न लगाने का निर्णय, व्यापार के लिए नहीं अपने उपयोग के लिए सब्जियाँ लगाना और गैर गाँववासियों को ज़मीन न बेचना आदि।”

“हरा समंदर गोपी चंदर, बोल मेरी मछली कितना पानी?” दीदी के यह पूछने पर हम सबने अपने सिर को हाथ लगा समवेत स्वर में, “इतना पानी” कहकर प्रतीकात्मक रूप से नदियों के जल से भरे रहने की कामना की। बचपन में खेला गया यह खेल अरवरी-संसद के प्रसंग से नया रूप ले गया।

— शक्ती बाँधकर पेड़ों से रिश्ता —

अलवर के लोग पानी की जीवनदायिनी शक्ति पाकर कैसे जल, जंगल और ज़मीन के प्रति समर्पण की भावना रखने लगे, इसे बड़े ही रोचक तरीके से चाचा जी ने बताया। उन्होंने हमसे एक सवाल किया, “क्या तुम धराड़ी का अर्थ बता सकते हो?” हम चुप। “अरे भई, शब्द पर ध्यान दो—धरोहर, धारणा, धारण करना और क्या!” हमें अब भी समझ नहीं आया। अब चाचा जी ने बात खोलकर समझाई, “राजस्थान में धराड़ी शब्द का निश्चित अर्थ है। यहाँ एक परंपरा है कि हर परिवार, कुल की एक-एक धराड़ी है। यह धराड़ी मूल रूप से वृक्षों की, जीव-जंतुओं की रक्षा का भाव है। इस परंपरा के साथ कई कथाएँ भी चली आ रही हैं, जैसे— किसी कष्ट के मौके पर परिवार को अशोक, कदंब, बरगद आदि वृक्षों ने सहायता पहुँचाई तो लोगों ने आजीवन उस वृक्ष के सम्मान में उसे न काटने का निर्णय लिया। इन लोक कथाओं को आज के लोग न भी मानें, परंतु धराड़ी का अर्थ वृक्ष की रक्षा का जो भाव देता है, वह निश्चित ही मनुष्य को पर्यावरण से जोड़ने वाला है। धराड़ी की यह परंपरा इंसानी जीवन में वृक्ष पर हमारी निर्भरता, हमारे जीवन में वृक्ष की अनिवार्यता और उसके संरक्षण से जुड़ी हुई है। प्रकृति के अनुचित दोहन का कार्य इससे एक हद तक रोका या सीमित किया जा सकता है। इसी तरह तुम जीव-जंतुओं के संदर्भ में भी देखो कि राजस्थान का बिश्नोई समाज काले हिरण को अपनी धराड़ी मानता है।” कितनी सुंदर और रोमांचक हैं ये लोककथाएँ जो इंसान के पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से मधुर संबंधों की गाथा कहती हैं। इन्हें सुनकर ढेरों जिज्ञासाएँ सिर उठाती हैं। मेरा मन कहीं भटक-सा गया जिसे अंततः चाचा जी की आवाज़ ने दिशा दिखाई।





चाचा जी बता रहे थे कि अलवर के लोग वृक्षों के महत्त्व को जान गए हैं और अपनी धराड़ी की ही नहीं दूसरों की धराड़ी की भी रक्षा कर रहे हैं। इतना ही नहीं वे प्रकृति से केवल जरूरत भर सामग्री ले रहे हैं, उसका अनावश्यक दोहन नहीं कर रहे। वृक्ष रोपने का काम तो लोगों ने बड़े पैमाने पर किया ही है साथ ही पेड़ों को राखी बाँधकर उनसे एक जीवित रिश्ता भी बनाया है। जल और जंगल बचाने में गाँववासी सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। अपने परिश्रम और संगठित शक्ति के आधार पर इन्होंने सच्चे पर्यावरण प्रेम का उदाहरण देश के समक्ष रखा है। विकास की इस राह पर चलकर इन्होंने अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को भी सुधारा है। जल ने जीवन दिया और जीवन ने ग्रहण किया नया आकार। जन जागृति ने शिक्षा के महत्त्व को जाना। बच्चों और महिलाओं की शिक्षा को नया आसमान मिला। रोज़गार के नए अवसर प्राप्त हुए।

“चेतना संपन्न, संसाधन संपन्न अलवर के कई गाँव आज देश के बदहाल गाँवों के लिए एक बेहतर उदाहरण तो हैं ही, साथ ही ये गाँव अलवर की सीमा से निकलकर अन्य गाँवों में बदलाव लाने की दृष्टि से भी कार्यरत हैं।” चाचा जी के स्वर में ओज था, “नदियों एवं गाँवों को मिला यह नवजीवन किसी चमत्कार से कम नहीं है, परंतु इस चमत्कार के पीछे कोई जादू-टोना, जंत्र-मंत्र नहीं बल्कि छिपा है इंसान का हौसला, उसकी हिम्मत और अपने श्रम में उसकी अटूट आस्था।”

कहानी यहाँ आकर रुकी ही थी कि चाची जी, माँ और पिता जी के सब्र का बाँध टूट गया। यूँ भी चाचा जी अपनी बेमिसाल कहानी सुना ही चुके थे। चाची जी ने माँ-पिता जी की मदद से खाना मेज़ पर सजा दिया था। सलाद की थाली देखते ही मैं समझ गई कि टमाटर को काटकर फूल का आकार देने की कलाकारी पिता जी की ही है। सारी तैयारी देखकर और हवा में फैली स्वादिष्ट खाने की गंध ने हमारी भूख को चमका दिया। इसके साथ ही चाची जी का सख्त आदेश भी था— ‘अब बातें कम, खाना ज़्यादा।’ खाने की मेज़ पर चाची जी ने बताया कि आज का खाना पकाने में मुख्य भूमिका तुम लोगों के कथावाचक चाचा जी की है, जिन्होंने राजस्थानी भोजन विशेष रूप से तैयार किया है। खाने में बेसन के गट्टे की रसेदार सब्जी, दालबाटी-चूरमा, पापड़ की सब्जी, मिर्ची वड़ा जैसे स्वादिष्ट व्यंजन थे। अलवर की यह यात्रा अभी तक राजस्थानी खाने के बिना अधूरी थी। इस अधूरेपन को चाचा जी और चाची जी के संयुक्त प्रयास ने पूरा कर दिया।

खाना खाते हुए हम सबने अनुभव किया कि चाचा जी व चाची जी दोनों ही लोग पाक-कला में माहिर हैं। जितने प्रेमपूर्वक उन्होंने हमसे बातें कीं उतने ही प्रेम से भोजन परोसा और आग्रह कर-करके खिलाया भी। खाने के बाद मिष्ठान्न में अलवर की खास मिठाई कलाकंद हमारे सामने थी। ताज़ा और खुशबूदार कलाकंद के सामने आने पर, पेट भरा हुआ होने के बावजूद मुँह में पानी आ गया। हम सबने मजे ले-लेकर कलाकंद उड़ाया। खाने के बाद चाचा जी व पिता जी टहलने के लिए बाहर निकल गए। उनके पीछे से हम सबने एक प्रस्ताव पास कर डाला कि आज रात हम चाचा जी के घर ही रुकेंगे। थोड़ी देर में वे लोग पान खाकर लौट आए। पिता जी ने गंभीरतापूर्वक कहा, “देखो बच्चो, मैं कई बरसों के बाद अपने दोस्त से मिला था और आते ही तुमने मेरा समय कहानी सुनने के लिए ले लिया। इसलिए आज रात हम यहीं रुकेंगे। अब तुम लोग सोने जाओ। हम दोस्त अपनी बातें करेंगे।” पिता जी की इस बात पर हमने जोर का ठहाका लगाया, क्योंकि हम तो पहले ही ऐसा प्रस्ताव पास कर चुके थे।

शब्दों की दुनिया

छाया और प्रतीक जल्दी ही सो गए, परंतु नींद अभी मुझसे बहुत दूर खड़ी थी। माँ और चाची जी बतरस में मस्त थीं। मैं चुपचाप उन्हीं के कमरे में जाकर माँ से सटकर लेट गई। दोनों बातों में इस तरह डूब गई थीं कि मेरी उपस्थिति से उन्हें कोई फ़र्क ही नहीं पड़ा। पड़ता भी कैसे क्योंकि वे दोनों तो अपनी रुचि के विषय यानी साहित्य पर बातचीत कर रही थीं।

दोनों ही पिछले दिनों पढ़ी गई कविताओं, कहानियों, लेखों और उपन्यासों के विषय में एक-दूसरे को बता रही थीं। चाची जी की लिखी एक कहानी पिछले दिनों माँ ने किसी पत्रिका में पढ़ी थी, जिसकी प्रशंसा वह कर रही थीं।

मैं ध्यान से उनकी बातें सुनने लगी। चाची जी बता रही थीं कि अलवर में साहित्य के प्रति लगाव रखने वालों की संस्था ‘हिंदी परिषद्’ का गठन आज़ादी से पहले सन् 1945 में ही हो गया था। आज भी छोटा शहर होने के बावजूद अलवर में लेखन-पठन की दृष्टि से कई लोग काफ़ी अच्छा काम कर रहे हैं। यहाँ कई ऐसे रचनाकार हैं, जिनकी ख्याति अलवर तक ही सीमित नहीं है। ये रचनाकार अपनी कविताओं, कहानियों, गज़लों, लेखों आदि के माध्यम से साहित्य में अपनी अमिट पहचान बना चुके हैं।





माँ ने पूछा, “रोहिणी, तुम साहित्य में इतनी रुचि रखती हो, इसके लिए समय कहाँ से पाती हो?” चाची जी उत्साह से भरकर बोलीं, “बड़ा आसान है, घर से जो समय मिलता है पढ़ने-लिखने, सभाओं में जाने, नाटक देखने, कवि-गोष्ठियों, कथा और विचार गोष्ठियों के लिए उस समय को दे देती हूँ।”

अलवर के महत्वपूर्ण व्यक्तित्वों डॉ. शंभुगुप्त और डॉ. शिब्वन कृष्ण रैणा पर भी बातचीत हुई। डॉ. गुप्त समीक्षा के क्षेत्र में सृजनरत हैं तो डॉ. रैणा ने हिंदी और कश्मीरी के बीच अनुवाद का सुदृढ़ पुल बनाने में सार्थक पहल की है। चाची जी ने बताया कि सबसे पहले कश्मीरी रामायण का हिंदी में अनुवाद करने का श्रेय भी इन्हें जाता है।

फिर दोनों ने अलवर के कवियों और कथाकारों पर विस्तार से चर्चा की। चाची जी कहने लगीं, “रेवतीरमण शर्मा तो न केवल अच्छे कवि हैं बल्कि नाट्य जगत में भी उनका योगदान महत्वपूर्ण है। अलवर में ‘भारतीय जन नाट्य संघ’ के ये अध्यक्ष रह चुके हैं और ‘पलाश’ नाम की युवा रंगकर्मियों की संस्था की नींव उन्हीं के हाथों रखी गई।” माँ और चाची जी ने सामाजिक विषयों पर लिखने वाले सुरेश पंडित की चर्चा को भी अपनी बातचीत में जगह दी।

मैं सोच रही थी अलवर कितने विविध रूपों में मेरे सामने खुलता जा रहा है और उसका हर रूप सुंदरता और सक्रियता में बढ़ा-चढ़ा ही मिल रहा है। मुझे लग रहा था कि जैसे अभी न जाने कितना कुछ है इस शहर के विषय में जानने को। यही सोचते-सोचते न जाने कब मेरी आँख लग गई।

फिर मिलेंगे

सुबह उठी तो मैं हैरान थी— चाचा जी-चाची जी, कावेरी दीदी, माँ-पिता जी को देखकर। रात को काफी देर तक बातें करने और जागने के बाद भी थकान का कोई निशान उनके चेहरों पर न था। सुबह भी वे सब उत्साह और ऊर्जा से कामों में लगे हुए थे। नाश्ता भी तैयार हो रहा था। मेरा आलस एकदम फुर हो गया और मैं एक झटके के साथ उठ बैठी। थोड़ी देर में छाया और प्रतीक भी उठ गए। हमने साथ-साथ नाश्ता किया। अब चाचा जी के घर से विदा होने का समय आ गया। चाची जी उदास-सी लगीं। हमें भी बिछड़ने का दुख था। वे बोलीं, “तुम लोगों के जाते ही

घर से रौनक चली जाएगी।” लेकिन जल्द ही माँ ने सब कुछ सँभाल लिया और तय हुआ कि हमारी अगली मुलाकात शीघ्र होगी। चाचा जी और दीदी ने किताबों का अमूल्य उपहार देकर हमें विदा किया।

होटल से सामान उठाकर हम लोग घर की ओर रवाना हुए। रास्ता वही था। हमारी दोस्त अरावली पर्वत श्रृंखला हमें विदा कह रही थी। इस विदा में केवल अलग होने का भाव ही नहीं था, बल्कि एक वादा भी छिपा हुआ था, दोबारा अलवर आने का। सरिस्का, संग्रहालय, महल, सिलीसेढ़, मूसी महारानी की छतरी, पांडुपोल, जोहड़ सभी समवेत स्वर में हमें यह वादा याद करा रहे थे। मैंने मन ही मन इसका जवाब दिया, “इस यात्रा को मैं जीवन भर नहीं भूल पाऊँगी और अलवर से मिलने दोबारा जरूर आऊँगी।”!



टिप्पणी

टिप्पणी

टिप्पणी

मन्हा राजकुमार

एन्टोनी द सेंट एक्सपेरी



नन्हा राजकुमार

(द लिटल प्रिंस)

एन्टोनी द सेंट एक्सपेरी

अनुवाद – देवी प्रसाद

Rs 65.00 / pp 80 / 2007

अधिक जानकारी के लिए कृपया www.ncert.nic.in देखिए अथवा कॉपीराइट पृष्ठ पर दिए गए पत्तों पर व्यापार प्रबंधक से संपर्क करें।



2055

विद्यया ऽ मृतमश्नुते



एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 978-81-7450-806-5